ज़िन्दगी मुसकरायी

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'



भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

लोकोदय ग्रन्थमाला . ग्रन्थांक २५
सम्पादक एव नियोजक
लक्ष्मीचन्द्र जैन
जगदीश

प्रथम सस्करण १९५४
द्वितीय सस्करण १९५६
तृतीय सस्करण १९६४
चतुर्थ सस्करण १९६६
पचम सस्करण १९७६
षष्ठ सस्करण १९८०



Lokodaya Series Title No. 25
ZINDAGI MUSKARAI
(Essays)
Kanhaiyalal Mishra 'Prabhakar'
Sixth Edition: January 1980

BHARATIYA JNANPITH
B/45-47 Connaught Place
NEW DELHI-110001

ज़िन्दगी मुसकरायी
(ललित निबन्ध)
कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'
प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
बी/४५-४७ कॅनॉट प्लेस
नयी दिल्ली-११०००१
षष्ठ सस्करण जनवरी १९८०
मूल्य : चौदह रुपये
मुद्रक
सन्मति मुद्रणालय
दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-२२१००१

एकता के
उन
प्रथम प्रतिनिधियों
को

- मनुष्य जंगल में जन्मा, वहीं पनपा और रहता रहा। कुछ पेड़, कुछ झरने, कुछ कन्दराएँ, बस, यही इतनी-सी उसकी दुनिया!
- गुट बने, क़बीले आये, गधे-घोड़ों का उपयोग हुआ और मनुष्य की दुनिया कुछ चौड़ी हो गयी!
- यों ही वह नगर और प्रदेश को पार करता देशवासी हुआ—देश की सीमा तक फैल गया!
- भारत के भिक्षुओं, हुएनसांग-जैसे यात्रियों और कोलम्बस-जैसे वीर खोजियों की जय कि वे मनुष्य को विश्व का नागरिक बना गये!

- भारत के ज्योतिषाचार्यों का अभिनन्दन कि उन्होंने धरती पर जीते-जागते मनुष्यों को आकाश का परिचय ही नहीं दिया, उसके साथ उनका जीवन-सूत्र भी जोड़ दिया !

- क्या मनुष्य की यह यात्रा यहाँ पूर्ण हो गयी ?

- ना, यह यात्रा तब पूर्ण होगी, जब धरती के मनुष्य का आकाश के वासियों से, लोक का परलोक से सीधा, साक्षात् और साधारण—आना-जाना, मिलना-जुलना—सम्बन्ध जुड़ जायेगा !

- और तभी किसी दिन होगा यह भी सम्भव कि इस लोक की होगी कोई कन्या और उस लोक का कोई कुमार और वे दोनों परस्पर विवाह-सूत्र में बँध लोक-परलोक की एकता के प्रथम प्रतिनिधि होंगे । तब लोक के लिये परलोक, न भय का कारण रहेगा न प्रलोभन का !

- बस, मेरी यह कृति, हृदय के सम्पूर्ण प्यार और सुख के साथ उसी प्रथम अन्तर्लोक-दम्पति को सादर समर्पित !

१ अगस्त १९५३ —क. ला. 'प्रभाकर'

पाँचवें जन्म पर

- 'ज़िन्दगी मुसकरायी' के पांचवें (और अब छठे) जन्म पर में अपने पाठको को अपने अभिवादन भेंट करता हूँ; क्योकि उन्होने इस लांछन को झूठ सिद्ध कर दिया है कि हिन्दी के पाठक खरीदकर पुस्तक नही पढ़ते।
- कहा जाता है कि हिन्दी मे १००० पुस्तको का छोटा संस्करण भी वर्षों मे नही बिकता और दूसरा संस्करण होना, दूसरा जन्म पाना ही समझा जाता है, पर 'ज़िन्दगी मुसकरायी' के चार मोटे संस्करण हो गये और विद्वानों ने भी उसपर भरपूर और निरन्तर अपने प्यार के फूल बरसाये—जगदीश जी के शब्दों मे 'ज़िन्दगी मुसकरायी' सचमुच खूब मुसकरायी।

□ प्रचार और प्यार पाने के साथ ही १९५३ मे लिखा 'ज़िन्दगी मुसकरायी' का समर्पण १९६२-६३ मे एक चमत्कार ही सिद्ध हुआ और जब प्रथम अन्त-रिक्ष-यात्री यूरी गागारिन को भारत यात्रा के समय वह सुनाया गया, तो उसको विस्मयविमुग्ध खुशी उसके होठो से आँखो तक फैल गयी। स्मरणीय है कि इसी समर्पण को १९५३ मे कुछ लोगो ने खयाली पुलाव कहा था।

□ इस सस्करण मे कुछ लेख निकाल लिये हैं, जिससे इन पृष्ठो मे अब शुद्ध जीवन-चिन्तन रह गया है। उन लेखो मे राष्ट्र-चिन्तन की दिशा थी।

□ 'ज़िन्दगी मुसकरायी' असल मे कोई पुस्तक नही, जीवन की 'रिफाइनरी' (संशोधनशाला) है, जिसमे जीवन शुद्ध हो, उद्‍बुद्ध होता है। इसी की शाखाएँ हैं - बाजे पायलिया के घुंघरू, माटी हो गयी सोना, क्षण बोले कण मुसकाये, महके आँगन चहके द्वार, दीप जले शख बजे, ज़िन्दगी लहलहायी और जिये तो ऐसे जियें।

□ हम सब इस विचारयज्ञ में भागीदार हों, अपने महान् राष्ट्र की श्रेष्ठ मानवता के स्वस्थ अंग बनें, यही मेरे जीवनयज्ञ की कृतार्थता है।

—लेखक

अनुक्रम



पृष्ठभूमि

भाई ब्रह्मदत्त शर्मा 'शिशु' जन्मजात कवि थे। वे कवि थे, गायक थे, लिखते और गाकर सुनाते। समा बँध जाता और हम लोग एक स्वर्गीय विभूति की तरह उन्हें टुकर-टुकर देखा करते, देखते रह जाते।

जी में आता, एक गहरी मसमसाहट नसों में उठती कि काश, मैं भी लिख पाता ऐसा ही कुछ, पर कुछ लिख न पाता।

एक दिन एक सुन्दर-सी कॉपी खरीदी और उसमें शिशु जी की कुछ कविताएँ लिख ली। लिख नही सकता, तो पढ तो सकता था। जाने कितनी बार मैं उन्हें पढता-पढता झूम उठता, भूल जाता कि ये मेरी नही है और यह झूम ढीली पडती, तो तडफ उठता कि हाय ये मेरी नही हैं। एक अजीब नशा था, जो चढाव मे हाथों उठाता, तो उतार में हाथों पटकता भी।

सन् १९२४, सर्दियों की रात, देवीकुण्ड का एक जंगल, दो बजे का समय और मैं सस्कृत की मध्यमा परीक्षा का विद्यार्थी। सब सोये पड़े और मैं जाग रहा। उठकर बाहर आया, तो एक अजब सन्नाटा। लौटकर फिर कोठरी में आया, तो पढने में जी न लगा। गले में गुनगुनाहट, दिमाग में जाने क्या और यह मैंने लिखी आठ-दस पक्तियाँ। लय कुछ ग़ज़ल की-सी, भाव कुछ प्रार्थना के-से। आज सोचता हूँ, तो मामूली-सी तुकबन्दी, पर उस दिन तो उसे लिखकर, मैं कालिदास, मैं रवीन्द्रनाथ और मैं स्वर्ग का इन्द्र! जाने कितनी बार मैंने उन पंक्तियों को गाया, दोहराया, गुनगुनाया, देखा, पढ़ा, चूमा और उछाल दिया। ओह, मैं अब कवि हूँ, कवि, मुझे क्या जरूरत कि भाई साहब की कविताएँ कॉपी में नक़ल

कहूं ? अब अपनी ही कविताएँ कॉपी में लिखूँगा।

एक कागज़ पर मैंने बहुत-बहुत साफ़ उसकी नक़ल की और एक पत्र के साथ लिफ़ाफ़े में रख, वह किसी के हाथों शिशु जी के पास भेज दी। दिल धड़कता रहा, पर उसी दिन उनका पत्र मुझे मिल गया।

बहुत खुश हुए थे भाई साहब, बहुत तारीफ़ की थी उन्होंने, मेरे भविष्य के मनसूबों से उनका मन भर उठा था और अन्त में उन्होंने जो कुछ लिखा था, उसका यह सार मुझे याद है : "साहित्यिक की सफलता का रहस्य इस बात में नहीं है कि वह कितने अच्छे भाव संग्रह करता है, कितनी अच्छी तरह उन्हें लिखता है। भाव तो भगवान् के हैं, आकाश में भरे हुए हैं। साहित्यिक की सफलता का रहस्य यह है कि वह अपने को कितना निर्मल, कितना सरस, कितना सरल बना पाता है, जिससे वह उन भावों को ग्रहण करने का पात्र बन सके। गाना तो रेकॉर्डों में भरा ही है, जिसका ग्रामोफ़ोन जितना अच्छा होगा, उसका गाना उतना ही मधुर सुनाई देगा। तुम अपना ग्रामोफ़ोन यानी मानस अच्छा रखो, गाना तो फिर खुद ही अच्छा होगा।"

चिट्ठी पढ़कर उस दिन तो बस मैं मस्ता गया – पर आज सोचता हूँ, वह एक बालक को दी गयी थपथपी थी। अब मेरा हाल यह कि विद्यार्थी पढ़ा करते अपना पाठ, मैं सोचा करता कविता की पंक्तियाँ, वे लिखते अपनी परीक्षा के कल्पित प्रश्नपत्र, मैं लिखता नयी कविताएँ – रात-दिन मुझे कविता की धुन थी। मैंने सैकड़ों शब्दों में से चुनकर अपना उपनाम भी रख लिया था – प्रभाकर; क्योंकि मैं अपनी दृष्टि में उन दिनों सूर्य के समान तेजस्वी था। इस तरह कविताओं से मेरी कॉपी भरती गयी, पढ़ाई का चसका कम होता गया और मैं निहायत शान के साथ जीवन में पहली बार फ़ेल हो गया, पर सच कहूँ, मेरी दृष्टि में उन कविताओं का तब इतना महत्त्व था कि अपना फ़ेल होना, मुझे ज़रा भी न अखरा और अपनी बैलेन्सशीट को मैं लाभ की ही मानता रहा।

एक दिन मैंने उन कविताओं को एक जगह करने के लिए स्वयं एक कॉपी बनायी और रंगीन कागजों के कई फूल काटकर उसपर चिपकाये। शिशु जी अपनी कॉपियों में भूमिका भी लिखा करते थे। मैंने भी भूमिका लिखनी शुरू की, तो कलम ऐसी चली कि पूरे आठ पेज लिख गया। इन पृष्ठों में मेरी कविताओं की पृष्ठभूमि और जाने क्या-क्या बताया था। यह भूमिका पढ़कर मैंने स्वयं अनुभव किया कि मेरा गद्य मेरे पद्य से तगड़ा है और इस तरह अब मैं पद्य के साथ-साथ गद्य भी लिखने लगा। इन्हीं दिनों मैंने श्री चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' का 'नन्दननिकुंज' पढ़ा, तो मैं उसकी भाषा-तरंगों में बह-बह गया और मेरी भाषा पर उसका प्रभाव भी पड़ा — वह मँज चली और मुझे तो अपने लेख बहुत ही अच्छे लगने लगे।

इस सफलता के साथ मुझपर एक मुसीबत भी आ बरसी। मैं अब अपनी दृष्टि में एक महान् लेखक बनता जा रहा था, पर कोई सम्पादक मुझे अपने पुट्ठे हाथ न रखने देता था। मैं बहुत साफ लिखकर अपनी रचना उन्हें भेजता। उत्तर के लिए टिकट रखता। साथ के पत्र में सम्पादक जी को प्रसन्न करने के लिए भिन्न-भिन्न प्रयोग करता।

उदाहरण के लिए, मैं पत्र को वी. पी. भेजने को लिखता और उनके बहुत-से ग्राहक बनाने का आश्वासन भी उन्हें देता। उनकी सम्पादन-नीति को प्रामाणिक बताता, सम्पादन को असाधारण, दूसरे पत्रों से उनके पत्र की तुलना करके उनको श्रेष्ठ सिद्ध करता, उनके खास लेखों और पुरानी सम्पादकीय टिप्पणियों की प्रशंसा करता, अपने मित्रों से मैंने उनकी कब क्या तारीफ की या अपने किस भाषण में मैंने उनका ज़िक्र (कोरी गप्प!) किया और उसका श्रोताओं पर क्या प्रभाव पड़ा, यह सब लिखता। बिना जान-पहचान के ही झूठ-मूठ कई सम्पादकों को अपना मित्र बताता, वहाँ जो मेरी रचनाएँ छपनेवाली हैं, उनका नामोल्लेख करता, मैं आजकल अपने नगर में साहित्यिक जागरण के लिए जो रात-

दिन जी-तोड़ मिहनत कर रहा हूँ, उसकी झूठी तसवीरें खींचता, सम्पादक का रोब ग़ालिब होता, तो उसकी खुशामद करता, उसे ही अपना निर्माता बताता कि कैसे उनके किस लेख-टिप्पणी से मेरा मानस-कपाट खुल गया है और तब संशोधन करके अपने लेख छापने की प्रार्थना करता, उनके पत्र के जो ग्राहक मैंने बनाये हैं, उनके नम्बर-पते लिखता, एजेन्सी के नियम पूछता, नये लेखकों के सम्बन्ध में उनका कर्तव्य उन्हें बताता, अपने नगर में होनेवाले किसी भावी महोत्सव में उन्हें सभापति बनाने की बात कहता, उनके नये वर्ष पर उन्हें बधाई देता और संक्षेप में उनकी हर अनुमानित कमज़ोरी पर सेक लगाता और अपनी हर कल्पित विशेषता की घोषणाएँ छौंकता – यह भी लिखता कि मैं शीघ्र ही स्वयं एक पत्र निकालने का आयोजन कर रहा हूँ, जिसका पहला लेख आपसे ही लिखाऊँगा।

ग़रज़ और लिप्सा में फँसकर आदमी कितना धूर्त हो जाता है, पर यह धूर्तता बेकार थी, क्योंकि इस सबका जो फल मुझे मिलता था, वह था : 'रिटर्न विद थैंक्स' अर्थात् धन्यवाद के साथ मेरी रचना वापस आ जाती थी।

मैं उसे देखता, काँप उठता, दुखी होता, कभी-कभी रो भी पड़ता, मेरा दिल टूट जाता, मुझे गुस्सा आता, मैं आप ही आप गालियाँ देता, कोसता, कार्यालय में पहुँचकर सम्पादक के मुँह पर उसकी दावात उलटने के मनसूबे बाँधता, अपनी रचना फाड़ डालता, भोजन न करता, गुम-सुम पड़ा रहता और अन्त में फिर अपने को समेटता, सँभालता और किसी दूसरे सम्पादक पर निशाना बाँधता।

मेरा पहला निशाना जहाँ फ़िट बैठा, वे थे परम श्रद्धेय श्री गणेशशंकर विद्यार्थी।

'प्रताप' में आयुर्वेद की उन्नति पर एक आचार्य का लेख छपा। उस-पर किसी दूसरे विद्वान् ने एक पूरक नोट लिखा। मैं आज सोचता हूँ कि

मुझे न आयुर्वेद के सींग का पता, न पूँछ का, पर उन दिनों तो मैं सर्वज्ञ था। मैंने उसपर एक तीसरा लेख लिखा और 'प्रताप' में छपने को भेज दिया। क्या कहूँ, मेरी जिन्दगी का वह सबसे बेचैन सप्ताह था, क्योंकि मैंने गणेशशंकर जी की इतनी प्रशंसा और खुशामद की थी कि क़लम ही तोड दी थी। जाने कितनी बार मैंने उस दिन के बारे मे सोचा, दूसरों से पूछा और तब कही मुश्किल तमाम सोमवार आया। डाकखाने गया, 'प्रताप' आया, बाँसों उछलते दिल उसे खोला, खोजा, पर उसमें कही मेरा लेख न था। जीवन की वह सबसे बडी असफलता थी—ऐसा धक्का मुझे फिर बाद में कभी नही लगा। धरती घूम गयी; आकाश टूट गिरा और घर आया, तो हिचकियो रोया।

रोकर सो गया, सोकर उठा, तो वही उधेड-बुन। दोनो लेख पढकर अपना लेख पढा और क्या बताऊँ, मुझे तो अपना ही लेख सर्वोत्तम जँचा। मैंने उसकी फिर नकल की और गणेशशंकर जी को एक पत्र लिखा। इस पत्र मे उनकी महत्ता के गुब्बारे थे, तो उनके सहकारी सम्पादको की अज्ञानता के नारे भी थे। कहा था : वे लोग रचनाओ का महत्त्व नही समझते, सिर्फ प्रसिद्ध लेखको का नाम देखकर ही लेख-वेख छाप देते हैं। सावधान किया गया था कि इससे आपके यश में धब्बा लगता है और 'प्रताप' को बहुत नुकसान होता है। अपने लेख को पूर्ण, उपयोगी और सर्वोत्तम कहा गया था। यह पत्र रजिस्ट्री से उनके नाम भेजा गया था : आशा है यह पत्र आपको निजी समय में मिलेगा और मुझे अपने सहकारियो के अत्याचार से बचा सकेंगे। उस समय यद्यपि बेचारे कन्हैयालाल जी मध्यमा के चतुर्थ खण्ड की परीक्षा में फेल हुए विद्वान् थे, पर अपने प्रहार को पूरी शक्ति देने के लिए लेख के नीचे लिखा गया था : लेखक कन्हैयालाल मिश्र शास्त्री।

लिफाफा भेजा, तो साँस आया – 'अब देखूंगा कि ये टुटपूँजिए सहकारी कैसे मेरा लेख रोकते हैं !'

पाँचवें दिन एक कार्ड आया। छोटे-छोटे अक्षरों में स्वयं गणेश-

शंकर जी ने लिखा था : तुम्हारी बातों से सहमत नहीं हूं, पर तुम्हारे उत्साह की कद्र करता हूं। लेख ठीक करके दे दिया है, इसी अंक में जा रहा है। मैं भविष्यवाणी करता हूं कि तुम शीघ्र ही एक प्रसिद्ध लेखक हो जाओगे।

रोम-रोम में खुशी फूट निकली और सोमवार तो अगला युग ही हो गया। डाकखाने गया, 'प्रताप' आया, वहीं खोला, अपना छपा नाम देखा और 'प्रताप' का वह अंक अगले सप्ताह तक अधिक से अधिक जितने आदमियों को दिखा सकता था, दिखाता फिरा।

मुझे आज तक खूब याद है -- अट्ठाईस रुपये के टिकट खराब करने के बाद मेरी पहली पंक्तियां छपी थीं, पर मुझे अब कोई दुःख न था -- मेरी रक़म सूदसहित वसूल हो चुकी थी।

'प्रताप' में नाम छपने से छपास का जो बुखार कुछ उतर गया था, वह पूरे ज़ोर से फिर चढ आया। अब सम्पादकों पर रोब जमाने की एक नयी तरकीब मेरे हाथ आ गयी थी -- 'प्रताप' में आपने मेरा लेख पढा होगा और इससे भी बढकर कभी-कभी तो यहां तक -- 'प्रताप' में तो आप मेरे लेख पढते ही होंगे।

अनुभव ने बताया कि 'प्रताप' में लेख छपने का दूसरे सम्पादकों पर कोई प्रभाव नहीं पडा और इससे वे मुझे लेखक मानने को तैयार न हुए। मैं इससे बहुत परेशान था कि मेरी कविताएं और लेख जब इतने उत्तम हैं, तो फिर ये सम्पादक मेरा व्यापक बाईकाट क्यों किये जा रहे हैं ?

उन्हीं दिनों मेरे साहित्यिक जीवन की एक महान् घटना हुई कि 'माधुरी' में उर्दू के महाकवि अकबर पर एक लेख छपा और उसी में उनका यह शेर भी .

"लगी चहकने जहां भी बुलबुल, हुआ वहीं पर जमाल पैदा,
कमी नहीं क़द्रदां की 'अकबर' करे तो कोई कमाल पैदा !"

इन पंक्तियो ने मुझे बिजली के सैकडो धक्कों से झनझना दिया और उस दिन मैंने अपनी आने कितनी कविताएँ और लेख फाड़ डाले। जोश मुझमें इतना कि हरेक को फाडते समय मैंने कहा : "तुम कुछ नही हो, तुम घास हो, तुममें कमाल नही है, मुझे तुम्हारी जरूरत नही, मैं सिर्फ कमाल की ही चीजें चाहता हूँ।"

इन रचनाओ को फाडकर मैंने नये लेखक के जीवन का जो महामन्त्र सीखा वह यह है . "रचनाओ को छपाकर नही, फाडकर ही नया लेखक आगे बढता है।"

अब मुझे कमाल करना था; पर कमाल बेचारे का कोई अता-पता मुझे मालूम न था। यह भी मेरा एक लडकपन था, पर इसमें जोश के साथ होश भी थी कि अब मुझे छपाने के लिए नही, लिखने के लिए लिखना था।

एक दिन खेतों पर गया, तो अजब हरियाली थी। उससे प्रेरणा मिली और हृदयेश जी की शैली में मैंने एक गद्य-काव्य लिखा, कई पेज का। आज सोचता हूँ उसमें गद्य-काव्य और स्कैच का समन्वय था।

इसे लिखकर रख दिया और तीन-चार दिन बाद फिर पढा और इस तरह कि मैं एक सम्पादक हूँ और मेरा महत्त्व इस बात में है कि इसके लेखक को मैं उसकी त्रुटियाँ बता सकूँ।

यो एक पत्र के कल्पित सम्पादकत्व से मेरी सम्पादन कला का आरम्भ हुआ। आज सोचता हूँ, तो हँस पड़ता हूँ कि मैं उस दिन सम्पादक के पोज में ही न था, यथार्थ में सम्पादक था। मुझे अनुभव हो रहा था कि मैं हूँ सम्पादक श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' और मेरे सामने ही बैठा है — यह एक नया लेखक कन्हैयालाल प्रभाकर; हूँ, जिसे अभी कुछ भी नही आता !

मैं वह गद्य-काव्य पढता जाता और उसकी कमियाँ मुझे सूझती जाती। मैं अत्यन्त गौरव के भाव से उन्हें बताता जाता, नये सुझाव भी देता और कभी-कभी बेचारे लेखक पर बरस भी पड़ता : "यह लेखन है

जनाब, कोई घासखुदी नहीं। यों जल्दी करेंगे और भरत भरेंगे, तो तीन कौडी के रह जायेंगे आप !"

आश्चर्य है कि मेरे सुझाव उपयोगी थे और उनके अनुसार मैंने उसे दोबारा लिखा, तो उसमें एक नयी चमक आ गयी। दो-तीन दिन बाद मैं फिर उस खेत पर गया और वहाँ बैठकर मैंने उस लेख को इस तरह पढ़ा कि जैसे किसी दूसरे को सुना रहा हूँ, तो दो नये फल निकले। पहला यह कि खेत के वातावरण और लेख के वर्णन मे जो अन्तर था, वह मेरे सामने आ गया और दूसरा यह कि कई जगह मुझे खटका कि यहाँ अभी कमी है। मैंने उसे तीसरी बार लिखा, तो ये सुधार तो हुए ही, उसका अन्त भी एक नये रूप में बदल गया और इस तरह वह लेख पूरी तरह खिल उठा।

अब मैंने उसे फिर अपने कल्पित सम्पादक को दिखाया, तो उन्हें पसन्द आ गया और वे उसमें कोई नया संशोधन न कर सके। लेख पास हो गया और मैंने उसे उठाकर रख दिया। छपने को तो अब कहीं भेजना ही न था।

इसके बाद मैंने दो कहानियाँ लिखी और तीन कविताएँ, पर वे मुझे न जँचीं, न मेरे सम्पादक को, तो मैंने फाड फेंका। मुझे इससे जरा भी दुख न हुआ।

कोई दो सप्ताह बाद मैंने अपना तीन बार लिखा वह लेख एक मित्र को सुनाया, तो वे प्रसन्न हुए, पर मुझे कई जगह भाषा में खुरदरापन खुद अखरा, जिसे चौथी नकल में मैंने नयी चिकनाई से ढँक दिया।

इस तरह – कमाल तक पहुँचने के लिए मैंने जो सीढ़ियाँ पार की, वे ये थीं छपाने के लिए कभी मत लिखो, सिर्फ़ लिखने के लिए लिखो।

लिखकर स्वय एक सम्पादक की दृष्टि से पढ़ो और जो कमियाँ दिखाई दें, उन्हें फिर सुधारो।

दूसरी नकल के बाद उसे उठाकर रख दो और भूल जाओ। कुछ दिन बाद फिर पढो और जो नयी बातें सूझें – अवश्य सूझेंगी – उन्हें

उसमें बढा दो ।

अब उसे फिर रख दो और कुछ दिन बाद उसे अपने मित्रों को सुनाओ। वे यदि कुछ सुझाव दें और ये अपने को जँचें या सुनाते समय स्वयं कुछ नयी बातें सूझें – अवश्य सूझेंगी – उन्हें फिर से लेख मे बढ़ा दो ।

यदि लिखकर पढते समय ही यह सूझे कि यह कुछ नही है, तो उसे तुरन्त फाडकर फेंक दो ।

अब मैं अपने ही विद्यालय में द्वितीयाध्यापक था और इसी में मेरे विद्यार्थी जीवन के साथी श्री भगवत्प्रसाद शुक्ल 'सनातन' (अब स्वर्गीय) पढ रहे थे। मेरे ही सम्पर्क मे वे कविता लिखने लगे थे – वही तुकबन्दियाँ !

एक दिन उन्होंने मुझे इटावा से प्रकाशित 'ब्राह्मण-सर्वस्व' का एक अंक दिखाया। इसमे उनकी एक सस्कृत कविता छपी थी : देव-प्रार्थना। यह उनका पहला प्रकाशन था, इसलिए वे भी आज नशे में थे और यह आठ-दस दिन बाद तो बोतलों पहुँच गया, जब उस कविता पर पिण्डोरी के महन्त ने पाँच रुपये मनिऑर्डर से पुरस्कार के रूप में भेजे ! उनका दिल बढा और एक नयी कविता उनकी उसी पत्र में और छपी।

मेरा एक लेख उन्होंने बिना मुझे बताये, निकालकर 'ब्राह्मण-सर्वस्व' को भेज दिया और वह उसी मास छप गया। अंक के साथ ही उसके सम्पादक श्री ब्रह्मदेव शास्त्री (अब स्वर्गीय) का पत्र भी आया कि आप हर महीने एक लेख लिखें। मेरी लेखन-शैली की प्रशंसा भी थी। सम्पादकों से प्रार्थना करने का तो मुझे अनुभव था, पर मेरे जीवन में यह नयी बात थी कि कोई सम्पादक मुझसे प्रार्थना करे। उस पत्र ने मुझे फिर नशे मे भर दिया और कई दिन मैं उछला फिरा। अपने एकान्त मे कई बार मैंने कहा : ओहो, अब तो होने लगा है कमाल, और हर महीने में एक लेख मेरा 'ब्राह्मण-सर्वस्व' में छपने लगा।

इन्हीं दिनों एक और घटना हुई कि मेरे नगर के स्कूल में श्री गंगा-प्रसाद 'प्रेम' प्रधानाध्यापक होकर आये। बढ़े हुए बाल, खादी का कुरता, चिनी हुई खादी की धोती, हाथ में छड़ी, माथे पर चन्दन की बिन्दी और अत्यन्त मधुर बोल, वे मेरे नगर में एक नयी चमक-सी साथ लिये आये।

मैं उनसे मिला, सम्पर्क में आया और उनका बन्धुत्व पा गया। वे हिन्दी के श्रेष्ठ कवि, झूम-झूमकर अपनी कविताएँ सुनाते और मैं आकाश में उड़ा-उड़ा उन्हें सुनता। मेरी कविताएँ मेरी दृष्टि में अब घास थीं और मैं कविता के एक नये मोड़ पर खड़ा था। प्रभाव को ग्रहण करने की मुझमें शक्ति थी, कमाल की मुझे प्यास थी, प्रयत्नों की मुझे आदत थी। मैं पहले से बहुत सुन्दर कविताएँ लिखने लगा। मैं लिखता, वे उसमें काट-छाँट करते, वे निखर आतीं। मैं झूमकर उन्हें कवि-सम्मेलन में पढ़ता और अपने कानों अपनी प्रशंसा सुनता।

अब मैं नये लेखक के लिए ये तीन नयी सीढ़ियाँ और पा चुका था :

आरम्भ में कभी बड़े पत्रों के दरवाज़े न झाँको और जब रचनाओं में कुछ जान आने लगे तो छोटे-छोटे पत्रों में ही उन्हें भेजो।

दूसरे लेखकों के लेखों को एक-दो-तीन बार पढ़कर, फिर उन्हें बिना देखे, अपने ढंग पर उन्हें लिखो और तब असल से मिलाकर देखो कि क्या कमी रह गयी है और बस उन्हें फाड़ फेंको।

किसी श्रेष्ठ कवि से सम्पर्क बनाओ, उन्हें अपनी रचनाएँ दिखाओ, अपनी नम्रता, अहंकार-हीनता और सेवा से उन्हें उनसे ठीक कराओ।

'ब्राह्मण-सर्वस्व' में मेरे लेख क्या छपने लगे, मैं उससे लिपट ही गया। दूसरे वर्ष मैंने उसमें एक नया स्तम्भ खोल दिया : स्वर्ण-संकलन। इसमें मैं दूसरे पत्रों में प्रकाशित श्रेष्ठ लेखों का या उनके सारांश का संकलन करता और इस तरह पत्र को अच्छी सामग्री मिल जाती। कभी-कभी छोटे नोट भी मैं लिख भेजता और वे मेरे कहने पर बिना नाम दिये सम्पादकीय स्तम्भ में छप जाते।

'ब्राह्मण-सर्वस्व' को प्रकाशित हुए पचीस वर्ष हो रहे थे। मैंने शास्त्री जी को लिखा कि वे इस अवसर पर रजत-जयन्ती-अंक प्रकाशित करें। इस अंक की लेख-सूची, किस लेखक से कौन लेख लिया जाये और लेखकों को क्या पत्र लिखा जाये, यह सब मैंने लिख भेजा। किस सज्जन से, किस तरह, कितनी आर्थिक सहायता मिल सकती है, यह भी लिखा।

उनका उत्तर आया कि उन्हीं दिनों मेरी पुत्री का विवाह है, इसलिए मैं छपाई का प्रबन्ध तो कर सकता हूँ, पर सम्पादन मेरे बश का नहीं। मैंने उन्हें लिखा कि आप कार्य आरम्भ करें, मैं पूरा सहयोग दूँगा। ऐसा अवसर फिर न आयेगा, इसलिए यह विशेषांक अवश्य निकालिए।

उनका कोई उत्तर न आया, तो मैंने मान लिया कि वे तैयार नहीं, पर एक दिन डाक से मुझे सौ-सवा सौ छपे पत्रों का एक पैकेट मिला। यह रजत-जयन्ती-अंक के लिए लेखकों से लेख माँगने का वही पत्र था, जो मैंने शास्त्री जी को तैयार करके भेजा था। इसपर विषय-सूची भी मेरे ही वाली थी, पर आश्चर्य यह कि नीचे रजत-जयन्ती-अंक के सम्पादक की जगह मेरा नाम छपा था। मैं देखकर चक रह गया। यह काम मेरी योग्यता और शक्ति का कहाँ था? मैं क्या जानूँ सम्पादन? अभी तो मैं लेखक भी न बन पाया था, पर मित्रों ने हिम्मत बँधायी और इसमें मैं लिपट गया।

एक-एक लेखक को मैंने लिखा और इतने तकाजे किये कि लेख दिये बिना पीछा ही न छोड़ा। सच यह है कि मुझपर अब सम्पादन का भूत सवार था और लेखकों पर सम्पादक का भूत। कोई दो महीने के घनघोर परिश्रम से मैंने जो सामग्री संग्रह की, उसका बोझ छह सेर से ऊपर था।

अब यह अस्त-व्यस्त सामग्री मेरे पास थी। पूरे एक महीने मैं उसपर फिर जुटा और उसकी एक-एक पंक्ति पर मैंने ध्यान दिया। मुझे आश्चर्य हुआ कि बड़े-बड़े लेखकों की भाषा में शिथिलता थी। मैंने बेधड़क होकर काट-छाँट की और तब अनेक स्तम्भ बनाकर उनमें उस सामग्री को

बाँटा। हरेक स्तम्भ की विषय-सूची अलग बनायी और हरेक लेख पर संक्षेप में लेखक का परिचय अपने ढग पर दिया। ये परिचय मेरी उस समय की स्थिति को देखते हुए असाधारण थे — अनेक लेखकों ने बाद में उनकी प्रशंसा की थी, यह मुझे याद है।

यह विशेषांक असाधारण रूप से सफल रहा और इससे मैंने कमाल पैदा करने का जो नया सूत्र पाया, वह यह था : परिश्रम ही हर सफलता की कुंजी है और वही प्रतिभा का पिता है। सम्भव है प्रतिभा कोई बडी चीज हो और वह ईश्वर के यहाँ से ही आती हो, पर नये लेखक को उसकी प्रतीक्षा नहीं, अपने परिश्रम पर ही भरोसा करना चाहिए।

इस विशेषांक के सम्पादन से हिन्दी की दुनिया मे मेरा परिचय तो बढा ही, मेरा आत्मविश्वास भी दृढ हो गया। इसके कुछ दिन बाद मैंने 'गढदेश' के एक विशेषांक का सम्पादन किया और अप्रैल १९३० मे तो मैं ही 'गढदेश' साप्ताहिक का सम्पादक बनाया गया। कोई चार महीने मैंने यह काम किया और फिर मैं १९३० के कांग्रेस आन्दोलन में जेल चला गया।

यहाँ तक आते-आते मैंने यह समझ लिया कि मेरा मन कविता में नहीं उतरता और कविता को नमस्कार कर मैंने उसका लिखना ही बन्द कर दिया। इससे मुझे यह लाभ हुआ कि मेरा सारा ध्यान एक तरफ सिमट आया और इस तरह कमाल पैदा करने का यह एक नया सूत्र मेरे हाथ लगा : कभी फालतू चीज न लिखो, वही लिखो जिसमे पूरा मन लगे, पूरा रस मिले और पूरी डुबकी आये।

अब मैं अपने साहित्यिक जीवन के चौराहे पर था। १९३२ की जेल-यात्रा में मुझे बहुत ऊंचे मनुष्यों का सम्पर्क मिला और मैंने इस बीच काफ़ी पढा भी। इस जेल-यात्रा मे मेरे साहित्यिक जीवन में जो नयी बात हुई, वह थी यह कि सहारनपुर जेल के खेतों पर बैठकर मैंने अपने पिता के संस्मरण लिखे, कोई साठ-सत्तर पेजों मे और फ़ैजाबाद पहुँचकर कुछ ऐसे लेख लिखे, जिन्हें बाद में श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने स्कैच बताया।

एक तसवीर के दो पहलू और मोती इनमें मुख्य हैं। इस तरह मेरी क़लम को एक नयी सूझ मिली। मैं इसे यों कहता हूँ कि मेरा कवित्व मेरे गद्य में ही समा गया। जेल में लम्बी बीमारी के कारण मुझे जो एकान्त मिला, उसमें मैंने यह निश्चय किया कि मैं एक मिशनरी पत्रकार के रूप में ही अपनी सर्वोत्तम शक्तियों का राष्ट्र के लिए उपयोग करूँगा; क्योंकि प्लूरिसी ने मुझे देहातों की दौड़-धूप के लिए अयोग्य ही कर दिया था और साहित्य-विहीन राष्ट्रसेवा तो मेरे लिए सदा से ही अभिशाप-सी थी।

वहीं जेल मे एक दिन मैंने 'प्रताप'-सम्पादक पण्डित बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' से कहा : "मैं जेल से छूटकर आपके 'प्रताप' में रहूँगा।" वे मेरे प्रति सदैव ममता से ओतप्रोत, पर एकदम से बोले : "ना, हरगिज़ नही!"

मुझे गहरा धक्का लगा और सँभलकर ही मैं पूछ पाया : "क्यो पण्डित जी?" बोले : "वहाँ रहोगे, तो हम तुम्हें खा जायेंगे?" मैं खोया-सा बिना किसी प्रश्न के एक प्रश्न-चिन्ह ही बन गया, तो बोले : "हाँ-हाँ, पुराना नियम है कि बडी मछली छोटी मछली को खाकर पनपती है। 'प्रताप' – में तुम आओ, बहुत खुशी, पर इससे हम पनपेंगे तुम रल जाओगे। तुम एक स्वतन्त्र पत्रकार के रूप में सामने आओ। मैंने खूब देख लिया, तुममें इतनी शक्ति है कि सफल हो जाओगे।"

मेरे भावी जीवन में पत्रकार-कला का जो रूप स्फुटित हुआ, उसकी नीव फैज़ाबाद जेल में नवीन जी की इसी इंटरव्यू ने रखी थी, यह स्मरण कर मैं सदा मन ही मन उनका अभिनन्दन किया करता हूँ।

अपने स्केच और संस्मरणों की कलम को माँजने में मैंने बहुत परिश्रम किया। पहले तो मैंने यह अध्ययन किया कि किस बडे लेखक में क्या विशेषता है और फिर यह कि मैं अपनी कलम में उन विशेषताओं का कौन-सा अंश ले सकता हूँ। मुझपर चार लेखकों का प्रभाव पडा। सबसे अधिक पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी का और उसके बाद पं श्रीराम शर्मा,

श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति और श्री रामनाथ 'सुमन' का। श्री चतुर्वेदी जी का आरम्भ मुझे ग़ज़ब का लगा। शर्मा जी की प्रवाह-शक्ति और चित्रण, सुमन जी के विश्लेषण-कौशल और इन्द्र जी की घटना-शृंखला के सामने मेरा सिर झुक गया।

इस अध्ययन की छाया में मैंने कोई सौ तरह से स्कैच और संस्मरण लिखे होंगे। लिखे, काटे, फिर लिखे और फाड़े। एक लेख को अधिक से अधिक चौदह बार तक मैंने हुट-हुटकर लिखा, यह मुझे याद है।

इस तरह मैं अच्छे संस्मरण लिखने लगा और कमाल पैदा करने का एक नया सूत्र मैंने रचा: अपनी कमियों पर हमेशा आँख गड़ाये रहो और दूसरों की उन विशेषताओं पर गहरा ध्यान दो कि जिनसे उन्हें यश और सफलता मिलो। तब उन विशेषताओं को अपनी कमियों के स्थान में प्रयत्न करके इस तरह लो कि वे भद्दे पैबन्द होकर नहीं, दूध में चीनी बनकर तुममें समा जायें।

आदरणीय श्री विश्वम्भरप्रसाद शर्मा ने सहारनपुर से साप्ताहिक 'विकास' प्रकाशित किया, तो कुछ जिम्मेदारियाँ मुझे भी सौंपी। हर सप्ताह मैं उसमें कुछ लिखता रहा, पर उसके 'आर्यसमाज अंक' के काम में हाथ बटाने को मैं १९३३ में सहारनपुर क्या आया, बस 'विकास' का ही हो गया।

१९३४ में 'विकास' को एक लिमिटेड संस्था का रूप दे दिया गया और यह निश्चय हुआ कि पाँच महीने के लिए 'विकास' का प्रकाशन स्थगित करके संस्था के हिस्से बेचने और अपने प्रेस लगाने में परिश्रम किया जावे।

इन पाँच महीनों में मैं घूमते-घूमते बराबर जिस बात को सोचता रहा वह यह थी कि 'विकास' अब कैसा निकले? उसमें क्या-क्या रहे? कैसे यह आदर्श साप्ताहिक का रूप ले? और कैसे यह लोकप्रिय हो?

मेरी परेशानी यह 'लोकप्रिय' था। यदि पत्र को अश्लील कहानियों,

सस्ते वाद-विवादों और इसी तरह दूसरी सामग्री से सजाया जाये, तो पत्र तुरन्त लोकप्रिय हो सकता है, पर इस स्थिति में मेरे लिए उस पत्र से अपना सम्बन्ध रखने का क्या अर्थ ? मेरी तो रग-रग मे गुलामी की पीडा थी, स्वतन्त्रता की आग थी, मैं नौकरी के लिए तो पत्रकार बन न रहा था।

तो वह रास्ता मुझे न चलना था। दूसरा मार्ग था यह कि हम 'विकास' को ऊँचे और आदर्श विचारो से भरें और उसमें अपनी आत्मा का सर्वश्रेष्ठ दान दें। यह रास्ता ठीक था, पर इसमें दिक्कत यह थी कि इस तरह के पत्र का कोई ग्राहक न था। यदि अपनी शक्ति के भरोसे हम उसे घाटे पर भी चलाने को तैयार हो, तो उससे हमारा यह लक्ष्य कहाँ पूर्ण होता था कि जनता में जागृति हो, नये विचार फैलें ?

सारे-सारे दिन मैं इस प्रश्न को सोचता रहता और रात को तारो की ओर ताकते-ताकते भी। मुझे सपनो मे भी यही उलझन रहती। मैं परेशान था और जब मुझे कुछ न सूझता, तो ऊबकर मैं सोचता : "छोडो जी, यह कलम का काम, चलो देहात में कही आश्रम बनाकर बैठें और भावी क्रान्ति की तैयारी करें।"

पूनो की चाँदी-भरी रात में एक दिन मैं नहर पर जा लेटा और निश्चय कर लिया कि इस प्रश्न का निपटारा करके ही उठूंगा। मैं सोचता रहा। अचानक मेरा ध्यान नहर को धारा पर जा टिका। लहरें भी हैं, सरसता भी है, प्रवाह भी है, सन्तुलन भी है और गहराई भी। मुझे ऐसा लगा कि यह नहर मेरे भीतर बह रही है और मैं उसमे तैर भी रहा हूँ। तल्लीनता की इसी तैराई में अचानक चांद-सा चमकता एक प्रश्न मेरे मन में उभरा : क्या लिखने की कोई ऐसी शैली नही हो सकती, जिसमें लहरें भी हों, सरसता भी हो, प्रवाह भी हो, सन्तुलन भी हो और गहराई भी ?

प्रश्न क्या मन में उभरा मैं ही उभरकर बैठ गया। मुझे राह मिल गयी थी। मैंने सोचा : मैं ऐसी शैली पर लिखूँगा, जिसमें यह सब हो

और इस तरह हम जनता को वह देंगे जिसकी उसे ज़रूरत है, पर इस ढंग पर कि वह उसे ले सके, पचा सके, बिना कोई बोझ-भार उठाये। संक्षेप में, ज्ञान उपनिषद् का-सा पर अभिव्यक्ति लोरियों की-सी।

मुझमें इतना उल्लास था कि लगा . मैं नहर में तैरता हुआ ही एक मील दूर अपने घर पहुँचा हूँ।

प्रयोग आरम्भ किये। वही लिखना, काटना, बार-बार पढ़ना और फाड़ना। कोई दस-पन्द्रह लेख फाड़ने के बाद मैंने एक लेख लिखा : झाड़ू लगाने की कला। इसका आरम्भ राष्ट्रपति वाशिंगटन के जीवन की एक घटना से हुआ था और इस तरह यह संस्मरण और लेख का समन्वय था।

यह कुछ दिन बाद 'विकास' में छपा, तो मुझपर आकाश से वरदान बरस पड़े। पूज्य बापू ने मुझे अपने हाथ से लिखा : "भाई प्रभाकर, तुम तो मुझसे भी बढ़ गये। मैं तो पाखानों पर ही लिखता था, तुमने झाड़ू पर लिखा। मुझे बहुत अच्छा लगा।" विश्व के सर्वश्रेष्ठ महापुरुष के इस आशीर्वाद को पा, मैं और किस क़द्रदाँ की प्रतीक्षा करता। मुझे सब कुछ मिल गया था।

"कमी नहीं क़द्रदाँ की 'अकबर' करे तो कोई कमाल पैदा!"

तब से मैं इस ढंग पर नये-नये प्रयोग करता रहा और १९५० में आकर मुझे लगा कि मैं अब अपनी जगह आ गया हूँ। १९३५ से १९५० तक के इन पन्द्रह वर्षों में मैं अपने स्कैच और संस्मरणों में भी नये प्रयोग करता रहा और बराबर उन्हें नयी चमक देता रहा।

इस तरह अनजाने ही इन लेखों में स्कैच की चित्रता और संस्मरण की आत्मीयता भी आती गयी और अब हिन्दी के वन्दनीय विद्वान् कहते हैं : यह एक नयी शैली है। इस संकलन के लेख इसी शैली के हैं।

इन लेखों के साथ इस संग्रह में कुछ 'रेडियो टॉक' भी हैं। इनकी शैली बातचीत की है और मुझे आशा है कि पाठक इन्हें अपने साथ ही लेखक की बातचीत अनुभव करेंगे। यही इनकी विशेषता है। इन्हें

लिखाने का श्रेय आल इण्डिया रेडियो नयी दिल्ली के अधिकारियों और साथियों को है; विशेषतः श्री गोपालदास को और निश्चय ही मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

इन रचनाओं के सम्बन्ध में मैं क्या कहूँ, सिवाय इसके कि यह मेरा सचित रक्त है, जो आज पाठकों को भेंट कर रहा हूँ, अपने फक्कड़ जीवन में इसके सिवाय मैंने और कुछ भी तो संचय नहीं किया।

—*कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'*

विकास लिमिटेड
सहारनपुर उत्तर प्रदेश
गान्धी जयन्ती १६५३

धोखेबाज़ को प्रणाम !

उस दिन जीवन में एक घटना हुई। घटना अपने में इतनी साधारण है कि उसपर कोई ध्यान न दिया जाये, तो उसकी यह उपेक्षा किसी अपराध के दर्जे में खींच-तानकर भी दर्ज नहीं की जा सकती।

सर्दियो मे श्रीमती विद्यावती कौशल बीमार हुईं, तो सैप्टिक के भयंकर प्रकोप को रोकने के लिए उन्हें पैनिसिलीन के इन्जेक्शन दिये गये। पैनिसिलीन बर्फ में ही रह सकती है, इसलिए मैंने अपना बड़ा थर्मस उनके घर भेज दिया। वे अच्छी हो गयी, पर थर्मस वहीं रहा।

गरमियाँ आयी, तो बर्फ रखने के लिए मुझे जरूरत पड़ी। मँगाया, तो उत्तर मिला कि उसे तो तभी कुछ दिन बाद तुम्हारा आदमी ले गया था। सबसे पूछा, पर थर्मस लानेवाला मेरा कोई आदमी मुझे न मिला। मुझे यह सब अच्छा न लगा, बुरा ही लगा; क्योकि मैं इसे अब अपने साथ एक भद्दा मजाक समझ रहा था।

मैं एक दिन स्वय थर्मस लेने गया, तो उनका गम्भीर उत्तर मिला : "एक नौजवान मुसलमान यह कहकर थर्मस ले गया था कि तुमने मँगाया है।"

गयी बात और गयी चीज पर अफसोस करना मेरे स्वभाव के विरुद्ध है, इसलिए मन ही मन उस धोखेबाज नौजवान को कुछ गालियाँ दे, थर्मस मैंने बट्टे खाते किया और यह फाइल खत्म कर दी। मुझे थर्मस की बेहद जरूरत थी, बाजार में नया थर्मस दूकानों पर देखने को भी न था—लड़ाई के दिनों की बात है—पर मैं करता ही क्या ?

कोई दो महीने बाद एक दिन उत्साह के स्वर में विद्या जी ने कहा :

"तुम्हारा थर्मस मिल गया। वह मुसलमान लड़का आया था, शाम को लायेगा थर्मस।"

फिर धोखे से "मेरा थर्मस वह शैतान ले ही क्यों गया था?" आश्चर्य से मैंने पूछा, तो करुणा के इस बोझ से दबी-सी वे बोलीं: "उसकी पत्नी को भी मेरी तरह भयंकर सैप्टिक हो गया था और उसे भी पैनिसिलीन के लिए ही थर्मस की ज़रूरत थी। वह शहर के कई बड़े आदमियों के पास गया, पर उस ग़रीब को किसी ने भी दो दिन के लिए अपना थर्मस नहीं दिया। अन्त में वह डॉक्टर के पास जाकर रोया—उसकी पत्नी की हालत पल-पल ख़राब हो रही थी। डॉक्टर ने उसे बताया कि तुम्हारा थर्मस हमारे घर आया था। वह दौड़ा-दौड़ा तुम्हारे पास गया, पर तुम घर पर न थे। अब उसके सामने भयंकर घड़ी थी। बस, उसने आख़िरी दावँ लगाया कि वह हमारे घर आया और झूठ बोलकर थर्मस ले गया। उसकी पत्नी बच गयी, पर तभी वह उसे लेकर शहर चला गया। पत्नी अब बिलकुल अच्छी है और वह उसे लेकर घर लौट आया है।"

साथ ही यह भी—"वह झूठ बोलने के लिए माफ़ी माँग रहा था और बहुत-बहुत हाथ जोड़ रहा था। कहता: बीबीजी, आपके थर्मस ने मेरा घर उजड़ने से बचा लिया।"

शाम को सचमुच वह मेरा थर्मस उन्हें दे गया।

अब मेरा थर्मस मेरे पास और मैं स्वयं दो प्रश्नों के बीच। ये दोनों प्रश्न जानता हूँ मेरे हैं, पर लग रहा है कि मुझसे ये अपना समाधान भी माँग रहे हैं। पहला प्रश्न यह है: जिन मनुष्यों ने संकट की उन हृदयवेधक घड़ियों में भी, घर में थर्मस रहते उसे मना कर दिया या टाल दिया, उनमें और भेड़ियों में क्या अन्तर है? और जैसे मैं स्वयं अपने से आप ही कह रहा हूँ: यह हमारी सामाजिक विषमता का, धन के व्यक्तिगत प्रभुत्व का, अभिशाप है कि अपने पास फ़ालतू थर्मस रखने का भी अधिकार है और एक को अपनी पत्नी की मृत्यु का भय सामने

रहते भी उसे दो दिन के लिए पाने का अधिकार नही।

दूसरा प्रश्न यह : क्या उस तरुण ने थर्मस के लिए झूठ बोलकर पाप किया ? निश्चय ही उसने झूठ बोला और झूठ बोलना पाप है। मैं चाह रहा हूँ कि कहूँ — हाँ, उसने पाप किया है, पर साहस मेरा साथ नही दे रहा है कि मैं सुगमता से हाँ कह दूँ ! यही तक नही; वह विद्रोही होकर कहना चाह रहा है कि कहूँ — यह पुण्य है।

बात यह है कि पण्डा-पुजारियो के उस पाप-पुण्य में मेरा विश्वास नही है, जो स्वर्ग का बुकिंग-ऑफिस या नरक का पासपोर्ट है। हाँ, चरित्र के उत्थान-पतन मे मैं विश्वास करता हूँ और यही यह भी कि मैं उस नौजवान के इस कार्य को चरित्र की ऊँचाई ही मानता हूँ, पतन नही। निराशा, घबराहट और अवसाद की उन घडियों मे सूझ की स्फूर्ति को जागृत रखना; उस समय भी अदीन और अभय रहना, यदि चरित्र नहीं है, तो मेरी दृष्टि में फिर चरित्र और कुछ नही है।

मेरे निकट इस घटना का एक पहलू और भी महत्त्वपूर्ण है कि वह अशिक्षित और निर्धन युवक समाज के अनेक प्रतिष्ठित पुरुषो के दुर्व्यवहार की प्रतिक्रिया से बच पाया। इतने बडे मायाचक्र से वह कैसे बच पाया, यह स्वयं अपने में विस्मय का एक मायाचक्र ही है। उसे कई थर्मस-पतियो ने थर्मस नही दिया, यह जानकर भी कि उसकी पत्नी पल-पल मृत्यु की ओर बढ रही है, इस घटना की यह प्रतिक्रिया क्या कुछ अस्वाभाविक होती कि अब वह स्वयं ही थर्मस-पति बना रहता ?

यह कितनी असाधारण बात हुई कि उसने सब थर्मसवालों को एक ही गज से नही नापा। थर्मस न देनेवालो पर उसे चाहे जितना क्रोध आया हो, पर धोखे से ही सही, थर्मस देनेवाले के प्रति उसकी कृतज्ञता अभंग रही।

उस अशिक्षित तरुण के अन्तर में अनजाने समायी भारतीय संस्कृति का ही तो यह मूक प्रदर्शन था।

मेरा थर्मस अब मेरे पास था और मैं अब अपने मे खिला जा रहा

था। क्या मेरी प्रसन्नता का आधार यही था कि मेरा थर्मस मुझे मिल गया ? ना, मेरी प्रसन्नता इतनी दूकानदार कभी नहीं हुई। इस घटना में मानवता का जो स्पर्श है, मुझे तो उसी ने पुलकित कर दिया है। यह जीवनप्रद पुलक न जाने कब-कब तक एक मधुर स्मृति के रूप में मुझे सुख देगा।

इस पुण्य पुलक के स्रष्टा उस धोखेबाज को मेरा प्रणाम !



पेड़, पशु, मनुष्य !

मेरी खिड़की के सामने एक पेड खडा है। मेरी ही तरह साधारण देह है उसकी; पर जब उसपर फूल आते हैं, तो मुझे ऐसा लगता है, जैसे आकाश से बरसी देवताओं की हँसी का अम्बार हो ! चारों ओर हलके लाल रंग के फूल; यहाँ तक कि पत्ते भी ढक-से जाते हैं ।

मैं अपने पलग पर बैठा उसे घण्टों देखता रहता हूँ, पर मन नही भरता। मैंने अकसर सोचा है कि काली मिट्टी में जन्मे कुरूप तने पर आश्रित इस पेड में ऐसे कोमल पत्ते और इतने सुन्दर फूलों की सृष्टि विश्व का कितना बडा चमत्कार है। सोचते-सोचते ही मैं कई बार उठकर अपनी भावुकता के आवेश में उस पेड से जा लिपटा हूँ और मुझे ऐसा आनन्द आया है, मानो मैं अपने किसी मित्र से मिल रहा हूँ !

शास्त्र और विज्ञान दोनों वृक्षो को 'सजीव' मानते है। मेरा भी इसमें यों ही विश्वास-सा था, पर १९४२ की जेल-यात्रा मे अपने साथियों के साथ जब मैं डाकू-वार्ड मे बन्द किया गया, तो कुछ ही दिन पहले अपनी पत्नी की मृत्यु के कारण मेरे मन पर छायी शून्यता और भी घनी हो गयी। शून्यता के इसी वातावरण में एक दिन चाँदनी रात में अचानक चौक में खडे पेड़ की जीवन-शक्ति का मुझे साक्षात् अनुभव हुआ और मुझपर से शून्यता का वातावरण कुछ हट-सा गया। तब से वृक्षो के साथ मेरी आत्मीयता और भी गहरी हो गयी।

उस दिन भी मैं कुछ ऐसे ही 'मूड' मे था कि उस पेड के पास पहुँच गया। सन्ध्या का समय था और सूर्य की हलकी किरणो से वह और भी भव्य हो रहा था।

मैंने कहा : आज तो मित्र, तुम अपनी हँसी में आप ही लिपटे जा रहे हो; क्या बात है ? पेड़ बेचारा क्या बोलता; पर तभी कुछ फूल नीचे चू आये । अपनी भावुकता में मुझे ऐसा लगा कि ये फूल मेरे प्रश्न का उत्तर हैं और तभी आत्मीयता के प्रवाह में मैं ऐसा डूब गया कि पेड़ के तने पर प्यार से थपथपाकर मैंने कहा : अच्छा चलो, कुछ दूर घूम आयें ।

तभी हो गया मेरा खुमार कम और मैं आ गया भावुकता के आकाश से यथार्थ की पृथ्वी पर, जिसमें पेड़ पेड़ है और मनुष्य मनुष्य ! तब मैंने अपने-आपसे कहा : 'पागल, पेड़ है यह तो, यह कहाँ जायेगा !' मन में अफ़सोस-सा हुआ—काश, पेड़ भी चला करते !

मैं फिर विचारों में डूब गया । इस पेड़ में जीवन है, सौन्दर्य है और बहुत-सी बातों में यह आज के मानव से तो श्रेष्ठ ही है; पर इसमें गति नहीं है, इसीलिए यह स्थावर है ।

इसी शृंखला में सोचता हुआ मैं घूमने चला गया और खेतों पर पहुँचते-पहुँचते एक सूत्र मेरे हाथ लगा, जिसकी तीन धाराएँ हैं :

— जिसमें जीवन है, पर गति नहीं है, वह पेड़ है,

— जिसमें जीवन है और गति है, वह पशु है, पर

— जिसमें जीवन है, गति है और गति की सही दिशा—प्रगति—भी है, वह मनुष्य है ।

इन तीनों धाराओं का समन्वित भाष्य हुआ कि प्रगतिशीलता ही मानव की कसौटी है और यही उसे वृक्ष और पशु से पृथक् करती है ।



धीरे-धीरे जियो !

हमेशा जिस बरतन में मेरे स्नान के लिए पानी रखा जाता है, वह एक कलई की कूंड है और उसमें कोई तीन बाल्टी पानी आता है। उस दिन समय के समय एक अतिथि आ गये, तो गरम पानी का बँटवारा हो गया। अब कूँड मिली उन्हें और अलमुनियम का बड़ा भिगौना मुझे — यह अपने में बड़ा होकर भी इतना छोटा कि एक बाल्टी मे भरपूर !

भिगौना देखकर मुझे लगा कि आज पानी कम है और बिना सोचे भी इसका अर्थ हुआ — आज स्नान में वैसा आनन्द न आयेगा। फिर भी स्नान तो करना ही था, करने लगा, पर स्नान आज कुछ और तरह का लग रहा है। कैसा लग रहा है, सो कुछ स्पष्ट नहीं, पर लग रहा है कुछ और तरह का ही। जरा सचेष्ट होकर सोचता हूँ, तो यह लगना अच्छा है, कुछ बुरा नहीं।

यहाँ मेरा मन जाग-सा गया है। यह जाग एक प्रश्न बन रही है — जब पानी आज और दिन से कम है, तो स्नान अधूरा है। अधूरा होने का अर्थ है कि उसमें आनन्द की कमी है, पर यहाँ उलटी बात है कि आनन्द अधिक है, तो यह क्यों ?

प्रश्न उत्तर चाहता है, पर उत्तर तैयार तो है नहीं, उसे तैयार होना है। तैयारी प्रयोग चाहती है, काम माँगती है। इधर-उधर ध्यान गया, तो देखा कि रोज बड़ी कूंड के साथ स्नान करने को एक लोटा रहता था — संयोगवश आज गिलास ही है। लोटा शायद कूंड के साथ ही चला गया है। लोटा एक बार में सेर-भर से ज्यादा पानी लेता है, तो यह गिलास पाव-भर ही और यों लोटे से नहाने मे तीन बाल्टियों का पानी जितना

समय लेता है, आज एक बाल्टी पानी उससे ज्यादा समय ले रहा है।

मैं सोच रहा हूँ, यह देर तक नहाना ही आज का आनन्द है।

प्रश्न का उत्तर तो पूरा हो गया, पर प्रश्न भी तो एक पुरुष है, जो अकसर अपने साथ अपना कुटुम्ब रखता है। मुझे लग रहा है कि मन के भीतर एक नया प्रश्न उभरता आ रहा है। यह लो, वह आ गया ऊपर की सतह पर — स्नान की तरह जीवन की भी स्थिति नहीं है क्या, जो जल्दी-जल्दी जीने की अपेक्षा धीरे-धीरे जीने में अधिक आनन्द देता है?

स्नान की बात जीवन मे उतरी, तो गहरी हो गयी और मैं जाने विचारों के पाताल में कहाँ-कहाँ घूम आया। इस घूम-घाम में ज्ञान का यह सूत्र हाथ लगा : "सदा अंजलि को छोटी रखो, भले ही प्रश्न जीवन का हो या जीवन के किसी अंग का हो, सवासेरी लोटे से स्नान करने और गिलास से स्नान करने में यही तो अन्तर है कि पहले मे अंजलि बड़ी है, दूसरे में छोटी।"

तभी मुझे याद आ गये गौन साहब। वे मेरी ही जन्मभूमि के एक युवक थे। प्लेग में पिता की मृत्यु हो गयी, तो सम्पदा हाथ आयी। आँखें कमज़ोर थीं, सो चौंधिया गयीं और खुल खेले। अब वे पूरे ज़ोरों में थे। इठलाकर चलते, इतराकर बोलते। हरेक बात के अन्त मे कहते : गो-ओन। बस नाम ही पड गया गौन साहब।

गौन साहब की चारों तरफ़ चर्चा थी। होली में सांग खिलवाया, तो समा बँध गया। हजारों रुपये सांग-मण्डली, शराब और दावत में उड गये। "वाह साहब, आदमी तो गौन साहब हैं कि रुपये को कुछ समझते ही नहीं!" जो मिलता गौन साहब के जस गाता और जो जस गाता, कुछ पाता। मुफ्त के पीनेवाले कहाँ सुलभ नहीं? गौन साहब हमेशा दस-बीस में घिरे रहते।

चैत के मेले में गौन साहब का डेरा सबको मात कर गया। फुलवाड़ी भी रही, आतशबाजी भी और नाच-मुजरा भी। जो आया, खाकर गया, जो बैठा, पीकर ही उठा और देखनेवालों के तो ठट्ट लग गये। अब गौन

साहब की चर्चा गली-गली से घर-घर पहुँच गयी।

दो साल यही हाल रहा कि होली आयी, तो गौन साहब की और दीवाली आयी तो गौन साहब की। शहर के सब चमकते सितारे फीके पड़ गये, कुछ ऐसे चमके गौन साहब !!

बिना कमाये तो कारूँ का खजाना भी खाली हो जाता है। गौन साहब की तिजोरी भी अब आज्ञा-पालन में चिचिर-मिचिर करने लगी, पर गौन साहब के तो हाथ और दिमाग दोनों ही खुले हुए थे। रुपये की कमी आयी, तो धीरे-धीरे जमीन साफ हुई, बाग गया और हवेली भी गिरवी होकर, अन्त में कुटुम्बियो के हाथ बिक गयी। इन्ही आँखो, उन्हें तीसरे वर्ष मैंने फटे हालो भटकते देखा और तब उनका कोई दोस्त न था !!!

इस सबका सार संक्षेप में यही तो है कि गौन साहब जल्दी-जल्दी जिये !

ध्यान भी कहाँ से कहाँ चला जाता है। कहाँ गौन साहब और कहाँ उस तीर्थ के भिखारी ! उस दिन वर्षगाँठ थी मेरी। पत्नी ने कुछ परांवठे बना दिये कि मैं भूखों को खिला आऊँ। छोटी-सी छबिया में लेकर गया, तो वहाँ उस समय तीन-चार भिखारी थे। उन्हें मैंने कई-कई परांवठे दिये कि इतने में पांच-सात भिखारी और आ गये। हाथ सकोड़ा और उन्हें एक-एक परांवठा दिया, पर तब तक और आठ-दस आ गये। उन्हें आधा-आधा दिया कि परांवठे समाप्त, पर कई भिखारी अब भी मेरे सामने, जो भूखी आँतो और प्यासी आँखो मुझे देख रहे थे !

बात का रूप कुछ हो, पर है यही बात कि अंजलि बड़ी थी। जो शक्ति थी, जो जीवन था, वह जल्दी समाप्त हो गया और जिन्हें मैं कुछ न कुछ दे सकता था, जो सुख भोग सकता था, उन्हें न दे पाया, वह सुख न भोग सका !

महात्मा टॉल्स्टॉय की एक कहानी है कि राजा को कही से एक अनाज का दाना मिला। यह होगा कोई पाव-भर का, पर आकृति और बनावट

उसकी गेहूँ-जैसी ! आखिर यह क्या है ?

राजा ने आदेश दिया कि राज्य में जो सबसे बूढ़ा हो उसे बुलाया जाये, वह शायद इस बारे में कुछ बता सकेगा कि यह क्या है ? राजा के प्यादे चारो ओर दौड़ गये और एक दिन वे एक आदमी को लिये आये ! आँखें उसकी लगभग ज्योतिहीन और पैरो मे खड़े रहने की शक्ति नही, इसलिए राजा के प्यादे उसे कन्धों पर उठाये हुए।

अनाज के दाने को देखकर बूढे ने कहा, "यह गेहूँ है, पर इसके बारे में मैं अधिक नही जानता। हाँ, मेरे पिता इस बारे में आपको बता सकते हैं, वे अभी जीवित हैं।"

प्यादे फिर दौड़ गये और इस बार वे जिसे लाये उसकी आँखों में रोशनी थी, पैर मे ताक़त, प्यादे उसे सिर्फ सहारा दिये, लिये आ रहे थे !

अनाज के उस दाने को देखकर तुरन्त बूढे ने कहा : "हाँ, हाँ, यह गेहूँ है। अपने बचपन मे हमने इसे खूब खाया है, पर मैं इस बारे मे और कुछ नही जानता। हाँ, मेरे पिता बहुत कुछ बता सकते हैं। सौभाग्य से वे अभी जीवित हैं।"

प्यादे फिर दौड़ गये और इस बार वे जिसे लाये, उसकी आँखो में रोशनी थी, कन्धों में उभार था। पैरों में ठुकाव था और वह बिना किसी का सहारा लिये धीरे-धीरे चला आ रहा था।

उसने राजा से कहा : "हाँ, जी, यह तो गेहूँ है, हमने बोया है, काटा है, गाहा है, खाया है।"

राजा ने पूछा . "तब यह क्या भाव बिकता था महाशय ?"

हँसकर बूढे ने कहा : "बिकना-बिकाना हम नही जानते, पर जितना चाहें, मिल जाता था। जिसके पास गेहूँ होता, वह देता और मिठाई या कपास, जो उसके पास न होतो, ले लेता !"

कहानी तो समाप्त हो गयी और कहानी तो फिर कहानी ही है, पर मैं अब भी उसी दरबार में बैठा उन तीनों बूढो को देख रहा हूँ – बेटे से बाप और बाप से बाबा अधिक स्वस्थ है, यानी बेटे के पास पचहत्तर वर्ष

की आयु में जितना जीवन-धन शेष है, बाप के पास सौ वर्ष की आयु में उससे अधिक और बाबा के पास एक सौ पचीस वर्ष की आयु में उससे भी अधिक शेष है।

क्या अर्थ हुआ इसका ? अर्थ क्या और फलितार्थ क्या; वही एक बात देख-भालकर खर्च करने की, अंजलि छोटी रखने की बात और धीरे-धीरे जीने की बात।

कागज दियासलाई के छूते ही जल उठता है और भभककर बुझ जाता है, पर कोयला धीरे-धीरे आग पकड़ता है और धीरे-धीरे ही जलता है। जलना ही उसका जीवन है।

मनोवैज्ञानिक मानते हैं और अनुभव उसका समर्थन करता है कि किसी बालक का अपनी छोटी आयु में अधिक बुद्धिमान् होना भयावह है। ऐसे बालक आगे चलकर डल हो जाते हैं या पागल। इसके विपरीत संसार के अनेक महापुरुष अपने बालकपन में बहुत ही धीमे थे।

अपनी स्मृतियों के मण्डप में आ विराजे अपने पिता के मैं दर्शन कर रहा हूँ इस समय। वे सत्तर वर्ष की आयु में भी पूर्ण स्वस्थ थे। उनमें इतना जीवन था कि देखकर ही जीवन मिलता था।

पिता जी, आप बुढ़ापे में भी इतने स्वस्थ हैं, इसका रहस्य क्या है ? एक दिन यह मैंने उनसे पूछा, तो बोले : तीन मुख्य कारण हैं इसके :

१. मैं सदा ब्रह्मवेला में नियमित रूप से जागता हूँ और स्नान, भोजन, विश्राम और भ्रमण आदि में नियमित रहता हूँ।

२. मैं सदा आदमी रहता हूँ, भगवान् कभी नहीं बनता। तुम्हें सौ रुपये मिल गये, तो खुश और खो गये तो गुम ! मैं मानता हूँ सब काम ठाकुर जी की इच्छा से हो रहा है। आया भी उनका, गया भी उनका, सुख भी उनका, दुःख भी उनका।

३. मैं हमेशा बच्चों में खेलता हूँ। ये मुझे नया जीवन और फुरती देते हैं। हँसकर बोले : मेरे बालमित्रों में और बुढ़ापे में युद्ध हो रहा है। वह मुझे जितना थकाता है, ये मुझे उतनी ही शक्ति दे देते हैं। किसी

दिन तो बुढ़ापा जीतेगा ही, पर खैर अभी तो बेचारा पिट रहा है !

लोटे और गिलास के ऊहापोह में पड़ा, आज मैं सोच रहा हूँ कि मेरे पिता जी ने उस दिन धीरे-धीरे जीने का व्याकरण ही तो मुझे पढ़ाया था।

मेरा जीवन ही उनका जीवन है – यानी व्यक्ति का जीवन ही राष्ट्र के जीवन का आधार है। यों व्यक्ति की तरह राष्ट्र भी धीरे-धीरे ही जिये, तो श्रेयस्कर है, पर सभ्यता और विज्ञान दोनों ही उसे आज तेजी दे रहे हैं, जो सुविधा हमें भले ही दें, सुख कहाँ दे पाते हैं !

भारतीय जीवन धीरे-धीरे जीने का जीवन है। उसमें उद्वेग और आवेग नहीं है, सन्तोष और शान्ति ही उसके मूल आधार हैं।

सन्तोष और निराशा एक नहीं है। जो हमें मिला है, धैर्य के साथ हम उसका उपभोग करें और जो हमें मिलना है उसके लिए धैर्य के साथ उद्योग भी, पर इस उपभोग और उद्योग में हाय-हाय न हो, अशान्ति न हो, क्योंकि 'यदस्मदीय न हि तत्परेषाम्' जो हमारा है, हमें मिलना है, वह किसी और का नहीं हो सकता।

क्या हमें मिलना है और क्या पाने का हम उद्योग करें, इसकी भी एक मर्यादा है। यह मर्यादा ही भारतीय जीवन-दर्शन है। गान्धी जी ने इस जीवन-दर्शन को पूरी तरह समझा था और उनका चरखा उनकी दृष्टि में इसके पुनरुज्जीवन का ही प्रतीक था !

संक्षेप में जीवन का आदर्श साँचे में ढला पुरजा नहीं, वृक्ष पर खिला पुष्प है। वह बटन दबाते ही खिंच जानेवाला फ़ोटो नहीं, ब्रश और उँगलियों की कारीगरी से धीरे-धीरे बननेवाला चित्र है।

हम जीवन में दौड़ लगाते हैं। दौड़ना बुरा नहीं है। दौड़ने की शक्ति हममें हो, समय पर दौड़ सकें, यह आवश्यक है, पर दौड़ना जीवन का कोई साधारण नियम नहीं है – शयनकक्ष से दौड़कर रसोईघर में घुसना तो एक पागलपन ही है !

धीरे-धीरे जीने का अर्थ रुकना नहीं है। रुकना मृत्यु है। यह जीवन में पाप है, क्योंकि यह जीवन नहीं, जड़ता है। 'धीरे-धीरे जियो' का

अर्थ इतना ही तो है कि जीवन की शक्ति को सँभालकर खर्च करो।

जीवन के इस सत्य को एक बार पहले भी मैंने अनुभव किया था। उस दिन मैं शौचालय में गया, तो विचारों मे डूबा हुआ था। जब ताम-लोट के बहुत-से पानी का उपयोग कर चुका, तो मुझे अनुभव हुआ कि अभी मैं पूरी तरह नहीं निपट पाया। अब मेरे सामने प्रश्न था कि यह पानी तो कम है, क्या करूँ? सोचकर मैंने निश्चय किया कि जितना पानी शेष है, उसे ही हाथ थामकर बरतूँगा।

अन्त में मैंने यही किया और मुझे आश्चर्य हुआ कि जिस स्वच्छता के लिए पूरा बरतन-भरा पानी अभीष्ट था, वह थोड़े पानी में भी हो गयी। तभी मैंने सोचा था : जीवन का भी बहुत अंश यों ही फल-फल बह जाता है। हम उसके बहुत थोड़े अंश का ही उपयोग कर पाते है पर मानते रहते हैं कि इतने काम के लिए इतनी शक्ति, इतने साधन चाहिए, जब कि सत्य होता है यह कि हम उससे बहुत कम शक्ति और साधनों से ही यह काम कर सकते है।



मरना : एक कला; एक चांस !

हरेक मित्र अपने मित्रों से बहुत-से प्रश्न पूछता है, जिनसे उनके जीवन का सम्बन्ध होता है। प्रश्न पूछने का अर्थ है : जीवन की समस्याओं में साझीदार होना ! मैं भी आपका मित्र हूँ और इसलिए आपसे एक प्रश्न पूछ रहा हूँ।

प्रश्न बिना किसी भूमिका के यह है : आप अपने लिए कैसी मृत्यु चाहते हैं ?

अरे; आप प्रश्न सुनकर चौंक रहे हैं ! क्यों ? इसलिए कि यह अशुभ बात, बेतुकी बात आपसे पूछकर मैं अशिष्टता कर रहा हूँ ?

आश्चर्य है कि आप इस आवश्यक, शुभ और महत्त्वपूर्ण प्रश्न को अशुभ और बेतुका बता रहे हैं। बात यह है कि जीवन की व्यस्तता में आपने इस प्रश्न पर कभी विचार ही नहीं किया।

आपने सोचा है : आपका पुत्र जो अभी पाँचवीं क्लास में पढता है, एम. ए पास करके कलक्टर हो जायेगा।

आपने सोचा है : अभी आप जो मरियल-सी दूकान कर रहे हैं, बीस वर्ष बाद वह एक बड़ी फर्म के रूप में बदल जायेगी।

आपने सोचा है : अगले चुनाव में तो शायद, पर हाँ, उससे अगले चुनाव में आप अवश्य प्रान्त की विधान-सभा के सदस्य चुन लिये जायेंगे।

आपने सोचा है : यह, वह, वोह, पर जो कुछ आपने सोचा है, वह सब तो जीवन में क़तई अनिश्चित है। जीवन में निश्चित है मृत्यु और उसी के बारे में आपने कुछ सोचा नहीं। इसपर आश्चर्य यह कि आप अनिश्चित बातों पर निरन्तर विचार को अपनी बुद्धिमत्ता और निश्चित

बात के सम्बन्ध में विचार करने के मेरे निमन्त्रण को बेतुका बता रहे हैं !!!

कृपा कर अपनी भूल को समझिए और तुरन्त सोचिए कि आप अपने लिए कैसी मृत्यु पसन्द करते हैं ?

मनचाही मृत्यु का मिलना निश्चित नहीं, ठीक है, फिर भी उसके सम्बन्ध में सोचना आवश्यक और उचित है। क्या आप नहीं मानते कि आसमान के तारे तोड़ने का प्रोग्राम बनानेवाले की अपेक्षा, वह आदमी अधिक बुद्धिमान् है, जो पेड़ से आम तोड़ने का प्रोग्राम बनाये ?

फिर विश्व के अनुभव की साक्षी है कि मृत्यु मनुष्य की एक विवशता ही नहीं, एक कला और एक चांस भी है !

दारा एक सुकुमार साहित्यिक और औरंगजेब एक क्रूर शासक। दोनों सगे भाई, पर दारा जेल में बन्दी और औरंगजेब दिल्ली के तख्त पर। फिर भी दारा एक खतरा, एक कांटा और औरंगजेब कांटों को कुचल डालने का आदी – एक दिन दारा का वध करने कुछ जल्लाद दारा की कोठरी में पहुँचे।

एक महान् पुरुष के सामने कुत्ते की मौत और उससे बचने का कोई चारा नहीं। कहाँ दारा और कहाँ एक मामूली बकरे-सी यह मौत !

उसने हरबे-हथियारों से लैस क्रूर जल्लादों की जलती आंखों में झांका और फिर अपनी तरफ, उसके हाथों में एक मामूली चाकू था, जिससे वह इस समय सेब छीलकर खा रहा था।

दारा कूदकर खड़ा हो गया। उसने ललकारा : "कम्बख्तो, तैमूर का वंशज दारा कुत्ते की तरह घुटकर नहीं, एक बहादुर की तरह लड़ते-लड़ते मरेगा !" और उसने उछलकर अपना चाकू अपने हत्यारों पर चलाया।

क्रूर हत्यारों के तेज हथियार चले और पलक मारते दारा की लाश जमीन पर आ गिरी, पर तभी स्वर्ग के शहीदों ने पुकारा : "दारा, तू आज हमारा अतिथि होगा !"

एक चाकू के वार ने वध को बलिदान में बदल दिया और दारा की मृत्यु इतिहास की शानदार शहादतों में शुमार हो गयी !

और मौत ने ही महान् राष्ट्र-निर्माता स्वामी श्रद्धानन्द को जनता के स्मृति-संस्कारों में एक साम्प्रदायिक नेता-सा बना दिया !

स्वामी श्रद्धानन्द ही तो थे, जिन्होंने उस अँधेरे निशीथ में शिक्षा के राष्ट्रीयकरण का स्वप्न देखा और अपने हाथों गुरुकुल के रूप में उसे साकार किया।

वे स्वामी श्रद्धानन्द ही तो थे, जिन्होंने हिन्दुओं में एक-मात्र यह सौभाग्य प्राप्त किया कि वे दिल्ली की जुमा मसजिद में हज़रत इमाम की जगह खड़े होकर प्रवचन दें।

और स्वामी श्रद्धानन्द ही तो थे वे, जिन्होंने मार्शल्ला के दिनों में अपनी खुली छाती अँगरेज़ी संगीन के सामने अड़ा दी।

पर हाय, स्वामी श्रद्धानन्द ही तो थे वे, जो एक साम्प्रदायिक दीवाने के हाथों गोली खा, मर गये। मौत जीवन से ताकतवर निकली। मनुष्य मनुष्य की तरह जीता है अपने पुरुषार्थ से, अपनी प्रतिभा से, पर मनुष्य की तरह ही उसे मौत भी मिले, यह उसके भाग्य के अधीन है या उसकी कला के इसे मैं नहीं जानता – शायद यह दोनों के ही अधीन है !

स्वामी श्रद्धानन्द के विरुद्ध मौलाना मुहम्मद अली का जीवन है। वे जीवन-भर ख़ादिम-ए-काबा रहे, कभी ख़ादिम-ए-वतन न हुए; निश्चय ही अँगरेज़ के कभी दोस्त नहीं। मुल्क के मैदान में उतरे भी, तो ख़िलाफ़त की डोर पकड़े और जिये भी, तो तबलीग़ के तबेले में साँस लेकर। हद हो गयी उस दिन, जब वे कांग्रेस के प्रेसीडेण्ट चुने गये और उन्होंने अपने गुरूर भरे मदारत – सभापति-अभिभाषण में अछूतों को आधा-आधा बाँटकर हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापित करने की बात कही।

इसके बाद तो वे बेनाम हो गये और एक दिन अचानक उनका नाम देश के पत्रों पर तब छा गया, जब गोलमेज कान्फ्रेन्स में भाषण देते हुए उनकी भावुकता एक वाक्य मे बोल उठी : "मैं भाषण के लच्छे उड़ाने इग्लैण्ड नही आया। मैं अपने देश के लिए स्वतन्त्रता लेने आया हूँ। आपको मुझे वह स्वतन्त्रता देनी पड़ेगी या फिर मेरी कब्र के लिए जगह!" और सचमुच दूसरे दिन उनका हार्टफेल हो गया!

एक, और बस एक वाक्य ने मृत्यु की मनहूसियत पर उमगों की रंगीनियाँ छिड़क दी और मुहम्मद अली का भूला नाम लोगो के दिलो में ताजा कर दिया! लोगो ने सोचा और कहा : "भटक गया तो क्या, आखिर खानदानी देशभक्त था!"

मृत्यु की मसखरियाँ अजीब है। किसी को वह अपनी गोद में सुलाकर महत्ता देती है तो किसी को अपने आँचल की छाया से दूर रखकर!

महात्मा सुकरात के विचारों की आग उस युग के पोपले धर्म-नेता न सह सके, तो उन्होंने राज-सत्ता का सहारा ले, एक मुकदमे का स्वांग रचा और उनके लिए मृत्यु-दण्ड की घोषणा की।

मृत्यु-दण्ड से पहली रात में सुकरात के भक्तों ने तिकड़म लड़ा, यह प्रबन्ध कर लिया कि वे सुकरात को जेल मे ले उड़ें, पर जब वे रात में अपना प्रस्ताव लिये सुकरात के पास आये, तो उत्तर मिला : "क्या तुम चाहते हो कि जिन सिद्धान्तो का प्रचार मैंने जीवन-भर किया, उन्हें मृत्यु से डरकर मैं स्वय ही झूठा सिद्ध कर दूँ? जाओ, मैं यहीं मरूँगा और भागूँगा नही।"

और यो मृत्यु की गोद में सो, सुकरात एक साधारण प्रचारक से बहुत-बहुत ऊपर, एक अमर विचारक हो गये।

नेपोलियन महान् था, अपने जीवन मे, अपने कार्य से, अपनी विजयों से। यूरोप को उसने कई बार अपने पैरो रौंदा और उधर उठा, इतना ही चला गया, पर उसकी महत्ता के महल का [illegible] ?

ना, एक बार नहीं और सौ बार नहीं। उसकी अमरता का रहस्य उन विजयों में नहीं, उस पराजय में है, जिसने उसे सम्राट् से एक बन्दी बना दिया। नेपोलियन ने पराजित हो, हिटलर की तरह आत्म-हत्या नहीं की — वह पन्द्रह साल एक क़ैदी की सूरत में जिया; और यही — एक क़ैदी बनकर ही, वह महान् है!

मनुष्य अपनी कला और अपने भाग्य से ही अच्छी मृत्यु नहीं पाता; कभी-कभी मनुष्य के शत्रु ही उसकी मृत्यु को सौन्दर्य देने का काम किया करते हैं।

१९२४ में लाला लाजपतराय ने कांग्रेस से क्या बग़ावत की, अपने भाग्य से ही बग़ावत की। वे पंजाब-केसरी होकर जिये थे और इस तरह कि जिधर वे जायें, वातावरण में एक गरमी बरस पड़े, पर जो अब इस तरह रहे थे कि जीवन के चारों ओर उदासी का घना कोहरा था!

और यों १९२९ का साल, साइमन कमीशन के बायकाट की गरमी लिये देश में आया। साइमन कमीशन लाहौर में और लाला जी बायकाट के नेता। एक दिन उन्होंने भीम-गर्जना की : 'साइमन, गो बैक!' तो पुलिस प्रबन्धक सौण्डर्स के कानों पर उनकी ललकार हथौड़े-सी पड़ी। उसका दिल-दिमाग़ ही नहीं, हाथ भी बेक़ाबू हो गये और उसके डण्डे की लाला जी पर वह मार पड़ी कि उन्हें मारकर ही रही!

सौण्डर्स ने उन्हें चुटोला कर मरने को मजबूर कर दिया, पर मरकर ही तो वे जीवन के चारों ओर छाये हुए, उस कोहरे को भेद सके! उनकी अरथी के साथ सारा लाहौर था और आज भी उनकी याद आती है, तो अरथी के उस जलूस की गौरव-गर्वित गरमी लिये आती है, १९२४ से १९२८ तक उनके जीवन पर छायी उदासी लिये नहीं!

ये हुईं नेताओं की कथाएं, बड़े आदमियों की कहानियां, पर मृत्यु का

चमत्कार बड़े और छोटे को नही देखता। १९५१ में ज़रा-सी बात ने आसाम के एक डाकिये को दयनीय मृत्यु को एक महान् मृत्यु का रूप दे दिया।

दो डाकिये, जिनसे अपना आवश्यक कार्य लेने में उदार होकर भी समाज जिन्हें मान देने में कृपण रहा है, देहाती डाक के थैले लिये एक जंगल से गुज़र रहे थे। अचानक कही से शेर आ कूदा और उनमें से एक को थाम ले चला। मौत के भयंकर जबड़े में फँसे उस डाकिये ने अपना थैला दूसरे डाकिये की तरफ़ ज़ोर से फेंककर कहा "ले, यह थैला अच्छी तरह डाकघर पहुँचा देना, भूलना मत नही तो मेरी आत्मा वहाँ तड़पेगी!"

कर्तव्य की यह निष्ठा उसके सारे विभाग मे प्रशंसित हो, सदा-सर्वदा को प्रेरणा का एक स्रोत बन गयी!

मृत्यु से मोरचा लेना तो बड़ी बात है ही, कभी-कभी मृत्यु को एक मीठा निमन्त्रण दे देना ही जीवन को एक नयी रौनक दे देना है।

'हरिजन-सेवक' में प्रकाशित यह घटना कितनी मर्मस्पर्शी है। एक शिकारी किसी गाँव में गया और एक मोर पर निशाना साधने लगा। एक देहाती ने उसे मना किया, पर वह न माना, तो देहाती मोर और शिकारी के बीच आकर खड़ा हो गया। शिकारी जोश मे था, उसने गोली दाग दी। देहाती घायल हो, गिर पड़ा। अब नज़दीक था कि देहात के लोग शिकारी का कचूमर निकाल दें, पर वह देहाती, तेज़ी से सरक-कर भीड़ और शिकारी के बीच आ गया। उसने जो कुछ कहा — उसकी सरल अभिव्यक्ति यह है: "मैंने जब मोर को ही नही मारने दिया, तो इसे क्यों मारने दूँगा।"

और बस अपने इस उदाहरण से वह सामान्य देहाती भारतीय जीवन में रमे दया-करुणा और अहिंसा के शाश्वत संस्कारों का सजीव प्रतिनिधि हो गया!

मृत्यु इस जीवन का अन्त है।

मृत्यु दूसरे नये जीवन का आरम्भ है।

मृत्यु से जब तक बच सकें, बचे रहना ही जीवन का पुरुषार्थ है।

मृत्यु का यथार्थ वरण ही जीवन का चरम विकास है।

मृत्यु के सम्बन्ध में ये भिन्न-भिन्न मत हुए, पर मृत्यु के सम्बन्ध में हमारे ज्ञानकोष का सर्वोत्तम रत्न क्या है?

हमारे राष्ट्रीय इतिहास का सबसे सनसनीखेज मुक़दमा भगतसिंह-बमकेस के नाम से अँगरेजी अदालत के सामने आया, तो राष्ट्र के सोये-से वातावरण में एक बिजली-सी कौंध गयी।

मुक़दमा उभरा ही था कि क्रान्तिकारी पार्टी का एक सदस्य फणीन्द्र मुकर्जी पुलिस का भेदिया बन बैठा। पार्टी के रहस्य अब खतरे में थे। निश्चय हुआ कि उसे गोली मार दी जाये, पर गोली कौन मारे? बिहार में कहीं पार्टी की मीटिंग हुई। मीटिंग में पार्टी के नेता श्री किशोरीप्रसन्न सिंह भी थे और उनकी पत्नी सुनीति देवी भी।

सुनीति देवी ने प्रार्थना की यह काम मुझे सौंपा जाये, पर किशोरी बाबू ने आदेश के इशारे से उन्हें बैठा दिया। सलाह-मशविरे के बाद यह काम एक दूसरे सदस्य को सौंप दिया गया, जिन्होंने उसे पूरी सफलता के साथ किया भी।

इस घटना के कुछ वर्ष बाद सुनीति देवी को तपेदिक हो गया। लाख प्रयत्न हुए, पर मृत्यु का पंजा ढीला न पड़ा। मृत्यु से कुछ घड़ियाँ पहले सुनीति देवी ने अपने पति श्री किशोरी बाबू से कहा: "मेरी विदाई का समय अब दूर नहीं, इसलिए मुझे आपसे एक बात कहनी है।"

"हाँ, हाँ, कहो भी।" फूल और फ़ौलाद से निर्मित किशोरी बाबू ने कहा।

"जब किसी आदमी को आदमी की तरह मरने का मौक़ा मिल रहा हो, तो उसे कभी रोकना मत।" सुनीति देवी ने कहा।

शुभकामना; एक जीवन-तत्त्व!

दीपमालिका के उपलक्ष्य में मित्र को शुभकामना का पत्र मिला – मित्र के स्वभाव का ही प्रतीक-सा निर्मल और सरल, पर यह है क्या ? एक छपा हुआ पत्र, सुन्दर कवर और एक शिष्टाचार ! बस इतना ही; तो यह सब कुछ नहीं। मित्र ने व्यर्थ ही मेरे मूक प्राणों में यह खलबली उठायी और अपने श्रम की कमाई के कई पैसे डुबाये।

"यह शुभकामना है जी !" तब यह ठीक है और इसके लिए जरूरी हो तो धन्यवाद, पर यह धन्यवाद जरूरी है नहीं; अरे व्यर्थ है बाबू, और नाराज न हों तो मुझे कहना है कि बेहूदा है। यह पश्चिम की गंगा में बहकर आया हुआ कूड़ा-कचरा है ! थैंक्स और धन्यवाद का भी जीवन में स्थान है, यह माने लेता हूँ, पर कहाँ और कितना, यह तो विचारणीय हुआ ही !

हाँ, तो यह शुभकामना है। अँगरेजी में एक चीज है 'गुडविश'; यह इसी का अनुवाद है शुभकामना। वहाँ थैंक्स की तरह यह भी एक शिष्टाचार है, पर हमारे भारतीय जीवन के अन्तस्तल में जो सुदृढ़ स्तम्भ हमारी संस्कृति को थामे हुए हैं : उसे प्रलयंकारी तूफ़ानों, दिगन्तव्यापी बवण्डरों और शैतानियत के मनोरम, पर सर्वनाशकारी प्रवाहों से बचाये रहे हैं, उनमें ही एक है : शुभकामना। यह हमारे ऋषियों की स्वयं उपार्जित सम्पदा है और हमारे राष्ट्र की मौलिक विभूति, जो शायद दुनिया में और कहीं प्राप्य नहीं।

इतनी बड़ी बात है यह हमारी शुभकामना ! और जानते हैं इस शुभकामना का आधार है सन्तोष – अपने प्रति हाथ में, हाथ मेरी प्यास

को जीतकर सारे जगत् के साथ 'विराग' की भावना का उद्रेक करने-वाला अमृत, सन्तोष।

यह शुभकामना क्या है ? सारे जग से पृथक्, पर सारे जग के विपुल प्राणो मे प्राण डाले, कही सुदूर वन में, पर्वत की कन्दरा मे, हिमालय के वर्फीले शिखर पर बैठा योगी भगवान् से माँग रहा है। क्या माँग रहा है; यह तो जानना ही है, पर प्रश्न तो यह उठ खडा हुआ कि यह कम्बख्त अपनी सम्पदा, नारी, शिशु और मान सब कुछ छोडकर तो यहाँ आया था, पर यहाँ भी इसमें इच्छाएँ शेष है, यहाँ बैठा भी यह कुछ चाहता है ? हाय री चाह ! कहाँ तक तू इसे लिपटी रही ? यहाँ भी यह कुछ माँग ही रहा है !

पर यह जानने में ही कि वह क्या माँग रहा है, इस प्रश्न की समाधि होगी। वह माँग रहा है — "तन्मे मन. शिवसंकल्पमस्तु !" मेरा मन शिवसंकल्प से भर उठे — इसमें शुभकामना का आलोक प्रदीप्त हो उठे मेरे प्रभु !

फिर प्रश्न उमडा। योजना की शक्ति है उसके पीछे कार्य करने-वाला व्यवहार, कर्म न हो तो योजना क्या करे ? पर यह योगी, कर्म का सन्यास लेकर तो यहाँ आ बैठा, लँगोटी तक तो इसके पास नही, फिर इसके शिवसकल्प क्या करेंगे ? है न प्रश्न गहरा और भेदभरा ? पर इस ससार में योगी की यही तो कीमत है कि वह ससार के लिए, हमारी जीवन-लता के लिए शिवसकल्प करता है। यही उसकी सेवा है, यही उसकी देन है, और यही तो वह दूर बैठकर भी हमारे जीवन का पूर्णतया भागीदार है। तभी तो वह हमारा है, हम उसपर गर्व करते हैं, उसे पूजते हैं। यदि वह एकान्त में बैठा अपने निर्वाण के लिए तप कर रहा है, तो हमसे उसे मतलब, उससे हमें काम ! वह करे तप, मरे-जिये, मुक्त हो या योगभ्रष्ट होकर योनियो के मायाजाल मे भ्रमता फिरे या स्वर्ग की अप्सराओं के इन्द्रजाल मे पडकर भ्रष्ट हो, नष्ट बने; हम उसमे दिलचस्पी क्यो लें ?

पर ऐसा तो नहीं है न। वह हमारा है, हमारा अपना है, हमारे जीवन में उसका स्थान है, जैसे घड़ी में पावर! हमारे लिए वह काम करता है, हम अपने लिए दिन के प्रकाश में काम करते हैं, वह रात की अँधेरी और उजाली घड़ियों में भी हमारे लिए काम करता है। हम काम भी करते हैं, आनन्द भी लूटते हैं, विश्राम भी लेते हैं, पर उनका काम, आनन्द और विश्राम यही है कि वह हमारे लिए शुभकामना करें — अपना मन सदा शिवसंकल्प से भरा रखें।

बस यही एक प्रश्न और; और बहुत जरूरी प्रश्न, जो इस समस्या को भीतर तक उधेड़कर रख दे। योगी बड़ा अच्छा है, हमारे लिए रात-दिन शुभकामना करता है, हम उसके कृतज्ञ, पर जीवन में सबसे बड़ा प्रश्न तो उपयोगिता का है। हमारे लिए वह शुभकामना करता है ठीक, पर हमें इन शुभकामनाओं से मतलब ? हमारा उनसे लाभ ? पागल के प्रलाप-सी खूब हैं ये शुभकामनाएँ। अरे भाई, उन योगीजी का भी अजीब दिमाग है कि हमें छोड़कर वहाँ जगल में जा बैठे और अब हमारे लिए शुभकामना कर रहे हैं। क्या खूब ? यह अद्भुत इश्क है। तिलस्मी मुहब्बत है। इन शुभकामनाओं की हमारे लिए उपयोगिता क्या है ?

उपयोगिता का प्रश्न व्यावहारिक है, इसका समाधान भी भावुकता के रूप में न हो, यह ठीक होगा।

अच्छा, यह जो अन्तरिक्ष है विराट्, व्यापक, जाने कहाँ-कहाँ तक फैला, यही विचारों का केन्द्र है, इसमें अनन्त विचार भरे हैं। कवि अपने शान्त, एकान्त में बैठा कविता लिख रहा है और चोर अपने शान्त एकान्त में स्थिर, राजा के महल में पाड़ लगाने की विधि सोच रहा है। कवि को भाव मिले, चोर को विधि, तो क्या यह भाव और विधि, कवि और चोर की सृष्टि है ? ऊपर से देखकर हम कहते हैं हाँ-हाँ, पर सत्य अभी और नीचे है।

भाव और विधि चिर से अन्तरिक्ष में थे, चोर और कवि ने उन्हें पकड़ लिया। रेडियो का यन्त्र हमारे घर में लगा है, गाने गाता है, भाषण

देता है, नाटक करता है, पर यह सब उसकी सृष्टि तो नहीं, वह अन्तरिक्ष में से इन्हें पकड़ता, यही उसकी चरितार्थता है। तभी तो चोर को चोरी की विधि मिली और कवि पा गया कोमल भाव। वहाँ सब कुछ है, जैसा जिसका यन्त्र है, वह वैसा ही ग्रहण करेगा।

हाँ, वाल्मीकि था डाकू — एक सत्सम्पर्क पा, वह साधक हो गया, पर एक पक्षी का वध देखकर बन गया आदि-कवि! अरे, एक पुराने डाकू को यह क्षमता? यह भाग्य है। अन्तरिक्ष में बहती एक दिव्य भावना उसके मानस-यन्त्र में उतर आयी, पर एक डाकू के मानस-यन्त्र में ऐसी दिव्य ध्वनि क्यों और कैसे? यह पूछना चाहते हैं न आप?

जब पक्षी मरा और पक्षिणी विरह-वेदना में तड़पी, तो एक तरफ पक्षी की प्यास-भरी आँखें, दूसरी ओर पक्षिणी की प्यार-भरी आँखें, यही था न, चारों ओर पारिवारिक जीवन का कोमल, करुण प्रवाह! इस प्रवाह में डाकू बह गया और निकला एक भावुक मानव। बस बदल गया रेडियो और जहाँ ध्वनित था वध, लूट, डाका; वहाँ प्रतिध्वनित हुई कविता, आदि-कवि वाल्मीकि की रसवाणी! ऊपर से दीखता है कि डाकू को यह कविता मिली, पर डाकू को नहीं, एक भावुक को ही तो कविता मिली।

अच्छा, हमारे रेडियो में तो वह बजता है, जो दिल्ली, लन्दन या मास्को बोलते हैं, पर इस मानस-यन्त्र में अन्तरिक्ष से जो उतरा, वह कहाँ से आया? उस धरातल का 'ब्राडकास्टिंग स्टेशन' कहाँ है?

अब आ गये तुम सही जगह; वह स्टेशन है योगी, तापस, विचारक और प्रत्येक शुभकामना करनेवाला मानव और आँखों ही आँखों में शिव संकल्प करनेवाले पशु-पक्षी। इनका क्षेत्र है भावनाओं की अन्तरिक्ष में सृष्टि और परिष्कार। वायु को विशुद्ध करनेवाली ओषधियों की तरह, ये हमारे मौन संरक्षण हैं और यही इनका सम्मान है, प्राचीन समाज-व्यवस्था का महान् ब्राह्मणत्व यही है और यही है शुभकामना।

राष्ट्र के लिए सिपाही युद्ध करता है, पर कवि? वह केवल कविता

लिखता है। और एक बूढा, युद्ध से दूर पडा अपाहिज ? वह केवल शुभ-कामना करता है। राष्ट्र के जीवन-यन्त्र के ये सब पुरज़े समान महत्त्व के हैं। पिछली लडाई के दिनों आये ससार में जो 'वी' का आन्दोलन चला था, वह क्या है ? कोई अपने कोट पर 'वी' लगाये या 'मतिया', रणभूमि में लडते सिपाहियो को उससे मतलब ? हाँ, मतलब है और बडा भारी मतलब है और इस मतलब में ही तो छिपा है : शुभकामना का महत्त्व !

गान्धी जी जब नया आन्दोलन आरम्भ करते, तो धन भी माँगते, जान भी माँगते और शुभकामना भी माँगते थे। जो न खद्दर पहने, जो न जेल जाये, जो न चन्दा दे, उसकी शुभकामना में आग लगे, यह हमारी माया है, पर उस महापुरुष के लिए तो उसका बहुत महत्त्व था। वह जिससे लडते, उससे ही लडाई के साधनों पर, रूप पर भी विचार करते। वायसराय उनका शत्रु था या सलाहकार ? केवल एक क्षेत्र में 'शत्रु' था — इगलैण्ड के प्रतिनिधि के रूप में, जहाँ वह हमारी गुलामी का बाडीगार्ड था, वह केवल वही और बाक़ी जो विशाल क्षेत्र पडा है, वहाँ वह मित्र ही क्यों न रहे ? जीवन-गृह के एक ही कोने में तो युद्ध है। बाक़ी तीन में शुभकामना का राज्य क्यो उजडे ? समझने की बात है, पर अमल करने की भी तो बात है ? है न !

हमारे देश में 'दाना दुश्मन' को 'नादान दोस्त' से श्रेष्ठ माना जाता है। दोस्त आखिर दोस्त है, वह दुश्मन से भी गया-बीता क्यों ? बडा चुभता प्रश्न है। हमारे अपढ देहातों मे ऐसे उदाहरण हैं सैकडों-हज़ारों कि बाप के साथ जन्म-भर दुश्मनी रही, उसे मिटाने का यत्न कभी शिथिल न हुआ, पर वह मरा और आप स्वयं उसके अबोध बच्चों के सरक्षक हैं। क्यों, उन्हें मिटा क्यों न दिया कि जन्म-भर की दुश्मनी सफल हो ? "ना, दुश्मन तो मर गया, अब दुश्मनी का क्या मज़ा ? बच्चे ! अरे वे जैसे उसके, वैसे अपने। कोई उन्हें तिरछी आँख से देखे, तो आँख न निकाल लें। ये यतीम तो नहीं, वही मर गया, हम तो हैं !" वाह री, शुभकामना ! भारतीय जीवन के रोम-रोम में व्याप्त जीवन का अमरतत्त्व !!

मुसलमान शासक की युवती बेगमें शिवाजी के हाथ लगी, पर क्या किया उन्होंने ? उन्हें लूट लिया ? उनके रूप-रस का पान किया ? उन्हें क़त्ल कर दिया ? ना, तो उन्हें दरबार मे नगी नचा, अपनी दुश्मनी का बदला लिया ? यह भी नही ! उन्हें सम्मान के साथ उनके घर भेज दिया । क्यो ? यह शुभकामना का अस्त्र है ।

तो इतनी बडी है शुभकामना ! मैं अब और क्या कहूँ कि हममें सच्ची शुभकामना जागे, उसकी शक्ति हम जानें और उसका प्रयोग भी ।



जब कुत्ता भौंक रहा था !

अपने एक मित्र की बैठक में बैठा, मैं उनसे बातें कर रहा था। बैठक में खिड़कियाँ इस तरह कि सड़क दूर तक दिखाई दे। मेरे मित्र मेरे लिए शिकंजवी लेने गये, तो मेरा दिमाग़ ज़रा खाली हुआ और स्वभाव के अनुसार उसे सोचने की फ़ुरसत मिली, पर वह सोचे क्या ?

भौं., भौं ! शब्द ने मस्तिष्क को राह दी, देखा – सामने गली के मोड़ पर एक मकान की दहलीज़ में कुत्ता बैठा है और जो सड़क पर आता-जाता है, उसे भौंकता है। भौंकना उसकी आदत है।

अब सोचना कुत्ते से जा मिला है। यह क्यों भौंकता है ? इसकी यह आदत क्यों है ? आखिर यह क्या कहता है ? प्रश्न तो बहुत-से हैं, पर उत्तर तो किसी का भी नहीं। कुत्ता मेरी भाषा नहीं जानता कि मुझे बताये और मैं उसकी भाषा नहीं जानता कि उसे समझूँ। दोनों तरफ़ की इस नासमझी में अन्दाज़ को खुल-खेलने का अवसर है, पर अन्दाज़ भी कुछ नये सवाल पैदा करके ही रह गया।

क्या यह कुत्ता इसलिए भौंकता है कि वह शान्ति के साथ बैठना चाहता है और लोग इधर से गुज़रकर उसके अमन में ख़लल डालते हैं ? या आनेवालों से यह ख़तरा लगता है कि उसके मालिक के घर को लूट लेंगे और इसीलिए वह उन्हें भगाने को भौंकता है ? क्या उसकी निगाह में हर आदमी चोर है ? कुत्ता बराबर भौंके जा रहा है – भौं, भौं., भौं, ! और मैं बराबर सोचे जा रहा हूँ क्यों, क्यों, क्यो ?

मित्र शिकंजवी ले आये, तो मैं पीने लगा। वे अपनी कहे जा रहे हैं इसलिए न दिमाग़ ख़ाली है, न मुँह। सोचना बन्द हो गया है, पर आँखें

कुत्ते को देखे जा रही हैं। सोचने की शक्ति भी उन्हें ही मिल गयी, तो वे और पैनी हो गयी हैं।

एक आदमी तभी उधर से आया और कुत्ता भौंका — यों ही हल्की-सी गुर्राहट। आदमी तेज़-तर्रार है। उसने कुत्ते को ज़ोर से घूरा और कहा भी कुछ। कुत्ता अब तेज़ हो गया और पूरे ज़ोर से भौंका। आदमी भी गरमा गया और उसने गालियों की एक तगड़ी बौछार फेंकी। कुत्ते की आवाज़ अब आसमान तक पहुँच गयी और वह कूदकर दहलीज़ से बाहर आ गया। यह आक्रमण की प्रस्तावना थी।

आदमी ने अब पास ही पड़ा, एक बड़ा-सा ढेला हाथ में उठा लिया। यह मोरचे पर जमने की स्वीकृति थी। इससे कुत्ता एकदम बौखला गया। अब कुत्ते का रूप देखने लायक। ढेले से बचने को पटे के दायें से चौकन्ना, पर वार करने को बराबर तिरछी कन्नी काटे-काटे बढ़ता। गरदन फूली हुई, जीभ दाँत के बाहर लपलपाती, भौंक में पूरी ताकत का भभकारा, पंजों से पृथ्वी को उधेड़ता-सा और दोनों तिरछी आँखों में अपने शत्रु का रोम-रोम खाये — यों कि उसका बस चले तो दुश्मन का कलेजा ही उधेड़ दे।

आदमी भी, पर खिलाड़ी है। बराबर अपनी राह बढ़ रहा है और कुत्ते की ओर से भी सावधान है, पर जितना वह बढ़ता है, उतना ही कुत्ता आगे आ जाता है। कुत्ते के पंजों में उसका गला समा रहा है, पर आदमी के सतर्क हाथ का ढेला उसे पनपने नहीं देता। आदमी ज्यों ही गालियों की बौछार छोड़ता है, कुत्ते की भौंक में भभक आ जाती है और आँखों में खून उतर आता है। दूसरी लड़ाई में गोयरिंग, हिटलर, गोबेल्स और मैकार्थर ने भी इतनी तल्लीनता से अपने किसी शत्रु का पीछा न किया होगा। मैं देख रहा हूँ और सोच रहा हूँ — यह आदमी और यह कुत्ता अपने घर पर कैसा शेर हुआ जा रहा है?

"मियाँ, अपना रास्ता लो। नाहक कुत्ते के मुँह क्यों लगते हो?"

ऊपर छत से [illegible] किसी ने पुकारा। वे [illegible]।

मोड आ गया था और यह मोड ही शायद श्वानदेव के साम्राज्य की सीमा थी, इसलिए एक लगडी-सी झोंक देकर वे अपनी दहलीज में जा विराजे और आदमी भी ढेला फेंककर अपनी राह लगा, पर मैं तो वही था।

मैंने अपने में ही कहा : क्यों जी, भला खामखा क्यों? भलामानस कहता है : कुत्ते के खामखा मुंह क्यो लगते हो? अरे भाई, जब वह बिना कारण भौंकता है, तो राहगीर उसका प्रतिवाद भी न करे? मालूम होता है यह कुत्ता इन्हें नहीं भौंकता।

अब मैं मित्र के साथ बातों में उलझ गया, पर भीतर मेरे जो विचार-धारा बहती रही, वह थी उस कुत्ते के ही इर्द-गिर्द। संक्षेप में शायद उसकी सूरत-मूरत यह थी कि कोई आदमी अपनी राह जाये, तो यह क्यों भौंके? और क्यो उसे परेशान करे? और करे ही, तो वह क्या उपाय है कि तुरन्त इसका मुंह बन्द कर दिया जाये?

कुछ देर बाद उसी राह एक और सज्जन आये। घुटने तो इनके जवानों से भी बढकर थे, पर थे थे वृद्ध ही! आहट सुनने में कुत्ता कभी चूकता नहीं और मालूम होता है थोड़ी देर पहले लड़ी कुश्ती का जोश भी अभी भूभल में दबा अंगारा था – वह पूरी तरह ठण्डा न हुआ था, इसलिए इस बार कुत्ते ने भीतर से ही चैलेन्ज नहीं किया, पहले ही वार में वह मोरचे पर आ गया – दहलीज के दरवाजे पर, और गुर्राया। गुर्राहट बहुत हलकी, जैसे सिपाही ने तलवार के कब्जे की ओर अभी एक नजर ही डाली हो, मूठ पर हाथ न रखा हो।

बूढा क्या बहरा था? उसने न कुत्ते की तरफ़ जरा झांका, न जबान हिलायी, न चाल में ही उसकी फ़र्क पडा। वह सीधा अपनी राह चले चला। जैसे कुत्ता उसके लिए है हो नहीं। बूढा उसकी सीध से निकल चला, तो उसने एक बार हलकी-सी ललकार दी : भौं.! यह भौं: इतनी बे-उभार कि जैसे जलसे में कोई अकेला श्रोता बेमौक़े नारा लगा दे और अपनी बेवकूफ़ी पर खुद ही झेंप जाये। अब वह खड़ा रहा

और बस बूढ़े को देखता रहा। जब बूढ़ा मोड़ पर आ गया, तो कुत्ते ने उधर देखा और एक बहुत हल्की भौं की, गले ही गले में, ओठ जिसमें न हिलें बस जरा-सी नाक सिकुड़कर रह जाये। वह चुप हो रहा। मन ही मन जैसे कह रहा था जा भाई बूढ़े, अब तुझे मैं क्या कहूँ और वह अपनी जगह जा बैठा।

मैंने सोचा, कुत्ता शायद थक गया है। तभी यह बूढ़े मियाँ से नहीं उलझा। मेरा प्रश्न अभी जमा न था कि दस-बारह साल का एक बालक उधर आ निकला। कुत्ते ने उसे देखा कि जोर से गुर्राया। वह गुर्राया कि लड़के ने अपनी चाल तेज की। लड़का जरा झपटा कि कुत्ते ने उसे पूरे जोर से एक झोंक दी : भौं. भौं. और कूदकर सड़क पर आ गया। अब लड़के के होश गुम! वह जोर से चिल्लाया और सिर पर पैर रख-कर भागा कि कुत्ते के पर लग आये। चार ही कुलाँच में उसने लड़के की दायीं पिण्डली जा पकड़ी। लड़का गिरा कि उधर से एक तरुण आ निकला।

तरुण ने पूरे जोर से अपनी छड़ी कुत्ते की कमर पर जड़ी। कुत्ता तड़ककर भागा और अपने दरवाजे पर जाकर टिका। तरुण लड़के को मोड़ तक पहुँचाकर लौटा, तो कुत्ता युद्ध के लिए तैयार। पूरे जोर की भौं. भौं जिसमें क्रोध की किचकिचाहट और बदले का खूनी जोश, पर तरुण भी असावधान नहीं। वह छड़ी उठाये उसके पीछे चला। अब कुत्ता भौंकता जाता है और लौटता जाता है। वह दहलीज तक पहुँच गया, पर तरुण अभी बढ़ा ही आ रहा है। दूरी कम हो रही है, छड़ी ऊपर को उछलती है। उसके उठने का रस कुत्ता चख चुका है, इसलिए वह उछला और दहलीज के भीतर हो रहा।

अब स्थिति यह कि कुत्ता दहलीज के भीतर से भौंक रहा है और तरुण बाहर खड़ा उसे गालियाँ दे रहा है। कुत्ता जब भी दो पैर बढ़ा, बाहर को भौंकता है, तरुण धरती पर अपनी छड़ी फटकार देता है। कुत्ते की हुंकार पर आतंक की बौछार पड़ जाती है और वह भीतर हो

जाता है। कई मिनट युद्ध का यही रूप स्थिर रहा कि कुत्ते का भौंकना बन्द नहीं हुआ, पर वह बाहर आकर आक्रमण भी न कर सका। गालियों की एक तगड़ी बौछार फेंक, तरुण चला गया। कुत्ता तब भी भौंकता रहा।

मैं मित्र से बातें कर घर लौट आया और इस प्रकार यह कुत्ता-नाटक समाप्त हो गया, पर मैं इसके फलितार्थों पर विचार करता रहा। ये फलितार्थ इस प्रकार थे :

१. प्रतिवाद करने पर कुत्ते का भौंकना उग्र हो जाता है।

२. उधर ध्यान न देकर, उपेक्षा करने पर, कुत्ते का प्रतिवाद जन्म से पूर्व ही निस्तेज हो जाता है।

३ डरने—घबराकर भागने—पर कुत्ता घेर हो जाता है और उसका प्रतिवाद तो इससे उग्र होता ही है, वह काट भी लेता है।

४. यदि बलपूर्वक उसका प्रतिवाद किया जाये, तो वह मैदान छोड़कर आड़ ले लेता है, पर अपनी बकवाद जारी रखता है।

इसमें दो समझदारों में मतभेद नहीं हो सकता कि इनमें सर्वश्रेष्ठ मार्ग नम्बर दो का ही है—कुत्ते का प्रतिवाद न करना, उसकी तरफ ध्यान न देना, उसकी उपेक्षा करना, उसके सम्पर्क से दूर रहना।

और ज्यों ही यह परिणाम मेरे सामने आया, एक बीती घटना मेरी आँखों में घूम गयी।

मैं जब छोटा-सा बालक था, मेरे पिता ने एक मकान खरीदा। खरीदा क्या, मकान-मालिक ने थोड़े-से रुपये लेकर, उनसे प्रभावित होने के कारण, वह उन्हें दे दिया। हमारे कुटुम्ब के दूसरे धनी सदस्य अधिक रुपये लगाकर भी उसे न ले सके। धन के दर्प ने इसमें अपना घोर अपमान समझा और वह फुकार उठा।

एक दिन प्रात पिता जी भोजन के आसन पर बैठे ही थे कि अपने पाँच-छह बेटे-पोतों के साथ वे वहाँ आ धमके। लाठियाँ उनके हाथों में, क्रोध उनके हृदयों में और गालियों से भरे मुँह। आते ही उन्होंने गालियों

और धमकियों का एक दौंगड़ा-सा पिता जी पर बरसा दिया।

आज भी याद करता हूँ, तो मन शान्ति से भर जाता है। पिता जी ने बड़ी ही ठण्डी आँखों से उनकी तरफ देखा और सदा की भाँति उद्वेग-हीन स्वर में बोले : "आओ भाई, पहले खाना खा लो, फिर मार लेना।" गरम तवे पर ठण्डे पानी की ये बूँदें पड़ी, तो वह छन्ना गया। शेर लोग और भी दहाड़े, तो वे बोले : "तुम बहुत हो, मैं अकेला हूँ। भागा मैं कहीं जा नहीं रहा। आओ पहले खाना खा लें।"

शेर लोग और भी जोर से दहाड़े, तो पिता जी ने गले की माला निकाली और 'नमः शिवाय' का जाप करने लगे। पाँच-सात मिनट में वे लोग बक-झककर चले गये। माँ ने नाराज होकर कुछ कहा, तो बोले : "मैं कुछ बोलता, तो और घण्टा-भर खराब करते और खाने का स्वाद मारा जाता। ऐसे लोगों से बावली, बात न करना ही कल्याणकारी है।"

आज सोचता हूँ, पिता जी ने कुत्ते की मनोवृत्ति को कितना स्पष्ट समझ लिया था! ये लोग जो गरज रहे थे, स्वरूप और भाषा में भले ही इनसान थे, स्वभाव में उस कुत्ते से कहाँ कम थे? समाज में हम क्या ऐसे मनुष्यों को नहीं देखते, जो दोपाये हैं, पर चौपायों से कहीं बढ़कर! उनका सही इलाज है, उनसे दूर रहना।

साहित्य-गोष्ठियों के सम्बन्ध में पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी कहा करते हैं कि इनमें समानशील साहित्यिकों को ही निमन्त्रित किया जाये, अन्यथा विरोध बढ़ता है और काम कुछ नहीं होता। मैंने विविधता के नाम पर उनका कई बार विरोध किया था, पर उनकी बात का ठीक-ठीक महत्त्व मैंने आज समझा।

कुत्तों की और मानव-समाज में विचरते उनके द्विपद प्रतिनिधियों की उपेक्षा करो, उनके सम्पर्क से दूर रहो, जीवन में शान्त रहने का यह मन्त्र आज मुझे सिद्ध हो गया।

भगवान् दत्तात्रेय के एक सौ आठ गुरुओं में कुत्ता भी था।

उसने भगवान् ने सीखा था सन्तोष; जितना मिले उतने मे ही सन्तुष्ट रहो।

अपने से मैंने पूछा : तो दत्तात्रेय के गुरु से क्या मैंने इससे भी बड़ी बात आज नहीं सीखी ?



जीवन : एक ताना-बाना

"क्यों जी, आपने कभी सोचा है कि आपमें कितनी सहकार-भावना है ?"

"जी, हमने यह तो नही सोचा कि हममे कितनी सहकार-भावना है, पर यह जरूर सोचा है कि आप क्यो बार-बार हमसे ऐसे फालतू प्रश्न पूछते रहते हैं।"

"तो मेरा यह प्रश्न आपकी राय में फालतू है ?"

"जी, फालतू नही तो क्या काम का है ? आज हम यह सोचें कि हममे कितनी सहकार-भावना है, कल यह कि हममें कितनी असहकार-भावना है, परसो यह कि हममें लडाई की कितनी भावना है और परले दिन यह कि हममें लडाई से भागने की कितनी भावना है ? बस पण्डित जी, फिर तो हम कर चुके काम; और यह भी ठीक है कि फिर काम करके करेंगे भी क्या ? पांच-सात साल मे हममें क्या है और क्या नही है, यही सोचते-सोचते एक पूरा भावना-कोश तैयार हो जायेगा और बस उसे छपाकर बेच खायेंगे।"

"तो आप मेरे प्रश्न को यों हँसी में उडा रहे हैं, पर यह कोई गैस का गुब्बारा नही है कि नन्हें के हाथ से धागा छूटा और वह उड गया। खैर, यह गुब्बारा हो या हिमालय का शिखर, यह बात है कि आपने इस प्रश्न पर कभी नही सोचा और इसलिए मेरा यह कहना है कि आप बन्दर हैं।"

"बन्दर! हम बन्दर हैं या कि बन्दर के छोटे भाई ? तो पण्डित जी, अब हमें आप हमारे मुंह पर ही गालियां देने लगे। सच बताइए, आपका आज इरादा क्या है ?"

"अरे भाई, आप तो एकदम से भड़क गये, जैसे आतिशबाजी का अनार

हो। गाली मैं तुम्हें क्यो देता भला, यह तो एक सत्य है, पर भाई, सत्य यह है कि कोरा सत्य कभी-कभी गाली से भी पैना होता है।"

"तो यह एक सत्य है कि हम बन्दर है? सचमुच आज तो आप लड़ने के लिए ही आये दीखते हैं।"

"ओह, किस कदर जल्दबाज हैं आप कि पूरी तरह बात नही सुनते और बीच में टपक पड़ते है। मेरा मतलब यह है कि बन्दर का यह स्वभाव है कि वह अपने बारे में कभी कुछ नही सोचता। अगद से जब राम का दूत बनकर लका में जाने को कहा गया, तो वह सकुचाया, क्योंकि उसने अपनी शक्ति और योग्यता के बारे में कभी कुछ सोचा ही न था। बाद में जब उसे याद दिलाया गया, तो वह तैयार हो गया और आप तो जानते ही हैं कि लका मे जाकर फिर तो उसने वो काम किये कि आज भी इतिहास उसके गुण गाता है।"

"हूँ, तो यह मतलब है आपका कि जो अपने जीवन के प्रश्नों पर विचार नहीं करता, वह बन्दर है। लो, मान ली हमने आपकी यह बात, पर अब एक प्रश्न हमारा भी है।"

"हाँ, हाँ, पूछो भी अपना प्रश्न!"

"पण्डित जी, इन प्रश्नों पर बडी उम्र में ही विचार करना चाहिए, पर खैर छोडो इस बात को और यह बताओ कि आपने इस प्रश्न पर सबसे पहले कब विचार किया था कि आपमें कितनी सहकार-भावना—मिल-जुलकर काम करने की चाह—है?"

"वाह भाई वाह, कैसा फिट सवाल पूछा है आपने भी। बस समझ लो कि आपकी-हमारी बात-चीत अब जम गयी। मैं यह तो बताऊँगा ही कि पहले-पहल मैंने कब सोचा था यह प्रश्न, पर यह भी बताऊँगा कि इस मामले में मेरे गुरु थे दो बकरे और बीस-तीस बन्दर।

"अरे, हँस रहे हैं आप। ठीक भी है हँसना। आप सोच रहे है कि यह तो सुना था कि पण्डित के पढाये पाधा, पाधा के पढाये पधोकडे और पधोकडों के पढाये मालमाल होते हैं, पर आज आपके सामने बकरे और

बन्दरो से ज्ञान पाया, एक पण्डित विराजमान है। है न यही बात, पर लो, अब भूमिका तो बहुत हो ली, कुछ काम की बात सुनो।

जब मैं छोटा-सा बालक ही था, तो स्कूल की किसी पुस्तक मे मैंने एक कहानी पढी कि दो पास-पास खडे पहाडो के बीच से एक नदी बहती थी। उसपर आर-पार जाने के लिए गाँववालों ने लकडी का एक लट्ठा रख रखा था। एक दिन एक ही समय मैं उसपर एक बकरा इधर से चला, एक उधर से। लट्ठे के बीच में पहुँचे, तो दोनों आमने-सामने, न मुडने की जगह, न बचने की गुंजाइश। करें तो क्या करें? मौत दोनों के सामने, पर थे दोनो समझदार और समझदार क्या दोनो में सहकार-भावना थी। सलाह करके दोनो में एक वहीं लट्ठे पर बैठ गया और दूसरा उसके ऊपर से धीरे-धीरे उतर गया। बाद मैं यह भी उठकर अपनी राह लगा और यों दोनों मौत से बच गये।

मुझपर इस कहानी का बडा असर पडा। मैं सोचने लगा कि दोनो बकरे आपस मे बहस करने लगते, तो भूखे-प्यासे थककर नदी में जा गिरते। आपस के मेल-जोल से कितने काम निकल सकते है।

मैं इस कहानी को भूल भी जाता, पर उन्ही दिनों वह बन्दरों की घटना हो गयी, जिसका मैं अभी आपसे जिक्र कर रहा था और जिस पर आप मेरी अभी-अभी हँसी उड़ा रहे थे।"

"हाँ, वह बन्दरो की घटना सुनाइए पण्डित जी!"

"ओहो, फिर वही जल्दबाजी। अरे भाई, सुना तो रहा हूँ बन्दरों की घटना। जिस पाठशाला मे मैं पढता था, उसके सामने ही था बूढे महादेव का मन्दिर। मैं एक दिन दोपहर को मन्दिर में गया, तो क्या देखता हूँ कि एक काला साँप शिव जी को लिपटा हुआ है और अपना भयंकर फन उसने शिव जी के ऊपर फैला रखा है। मैं देखकर उलटे पाँव लौट आया, पर मेरे बाहर निकलते ही एक बन्दर मन्दिर मे घुसा। बात यह है कि बूढे महादेव के असली पुजारी ये बन्दर ही है और भक्त लोग चावल, मिठाई, फल आदि जो चढाते हैं, वह इन्ही के हिस्से में आते हैं।

मैं दूर से देखने लगा कि देखें हनुमान् और शेषनाग के वंशधरों में कैसी पटती है। बन्दर झपाटे के साथ बढ़ा चला गया और जब उसने फल-फूल की तरफ़ हाथ बढ़ाया, तो उसे साँप दिखाई दिया। पीछे हटने का मौक़ा ही न था; क्योंकि साँप वार कर चुका था। बन्दर ने कमाल किया कि फुर्ती से साँप का फन अपने पंजे में इस तरह दबोच लिया कि काटने के लिए वह मुँह ही न खोल सके।

मैंने अपने मन में कहा : कहो शेषनाग के पुत्र, सुरसा के वधकर्ता हनुमान् के पौत्र का पैंतरा कैसा रहा ?

मन ही मन शेषनाग के पुत्र ने कहा : ले तो मेरा भी पैंतरा देख और वह शिव जी की लिपटन को छोड़ एक झपाटे में बन्दर के पेट और छाती पर लिपट गया। अब हनुमान् का पौत्र बड़े संकट में, जैसे शिकंजे में कभी किताब, पर भाई, मैं उसके धीरज की प्रशंसा करूँगा। फिर भी उसने अपनी उँगलियाँ ढीली नहीं कीं और शेषनाग के पुत्र को कसे ही कसे अपने दो पैरों के बल ठुमकता-ठुमकता और पुकार मचाता मन्दिर से बाहर चला आया।

उसकी चिल्लाहट सुन बीस-तीस बन्दर इकट्ठे हो गये। अब मैं देख रहा हूँ कि वे बन्दर अपने साथी के चारों ओर घूम रहे हैं, मदद करने को बेचैन हैं, पर उन्हें सूझ नहीं पा रहा कि कैसे क्या करें। तभी कहीं से आ गया उनका मोटा चौधरी। जो समय पर संकट से समाज की रक्षा न कर सके, वह चौधरी क्या ? चौधरी ने आते ही वह पैंतरा चला कि शेषनाग के पुत्र का ब्रह्मास्त्र कट गया। चौधरी ने साँप की पूँछ पकड़ ली और वह उस बन्दर के चारों ओर को घूम गया। अब हालत यह कि साँप का मुँह तो दबा हुआ उस बन्दर के हाथ में और पूँछ चौधरी के हाथ में। आपस में सबने कीं-कीं की और बस इसके बाद जो कुछ हुआ वह एक चमत्कार है।

बन्दर पीपल की छोटी-छोटी टहनियाँ उठा लाये और बीच-बीच में से साँप को रगड़ने लगे। पाँच-सात मिनट में साँप के तीन-चार टुकड़े

हो गये और मुंह का छोटा-सा टुकड़ा उस बन्दर के हाथ में रह गया। उसने उसे बहुत गौर से देखा और उँगलियां जरा ढीली की, पर सांप के उस टुकड़े में अब भी दम था। उसने जरा-सी जीभ लपलपायी। बन्दर ने झट अपना पंजा फिर कस लिया और कुछ देर बाद उस टुकड़े को धरती पर इस तरह घिसना शुरू किया कि जैसे लौकी को कद्दूकस पर कसा जाता है। वह उसे थोड़ा-सा घिसता और देखता और फिर घिसता। बस यों ही घिसते-घिसते उसने शेषनाग के पुत्र का पूरी तरह भुरता कर दिया और एक भयंकर संकट से बच गया।

यह घटना मैंने अपनी आंखों देखी और अपने से पूछा कि यदि यही संकट हमारे किसी विद्यार्थी पर आया होता, तो क्या हम उसे इतनी ही आसानी से टाल सकते ? मेरे मन ने इसपर हाँ नहीं की और तब मेरे मन में यह दूसरा प्रश्न उठा कि क्या हम मनुष्यों में बन्दरों-जितनी सहकार-भावना भी नहीं है ?

बस तब से मेरी यह आदत बन गयी कि मैं अपने से और अपनों से बराबर यह प्रश्न पूछता रहता हूं कि आपमें कितनी सहकार-भावना है, पर आप उसे एक फालतू सवाल ही बता रहे हैं।

सचाई यह है कि यदि मेरा यह प्रश्न फालतू है, तो हमारा यह जीवन कुछ नहीं है, क्यो सहकार के सिवाय हमारा जीवन और है ही क्या ? मेरी तरफ मुंह बाये भोंधा-से क्या देख रहे हैं ? ठीक तो कह रहा हूं कि सहकार के सिवाय यह जीवन और है ही क्या ? लो सुनो, आपको पुराने सन्तो की सुनायी एक कहानी सुनाता हूं।

एक बार शरीर के अंगो मे लड़ाई हो गयी। इसका आरम्भ पैरों ने किया। वे बोले : लड्डू लाना हो या पेड़ा, कचौरी लानी हो या आलू की टिकिया, हमें ही दौड़ना पड़ता है, पर चीज लेते ही हाथ उसे थाम लेते हैं, मुंह चट कर जाता है, आँखें देखती है, पेट खा जाता है, नाक सूंघती है, हमे क्या मिलता है — हम क्यों बेगार करें ! आज से हम नहीं चलेंगे, जो खाते हैं, लेते हैं, वे ही जायें, वे ही दौड़ें।

बस पैरों की देखा-देखी औरों को भी सूझी। हाथों ने कहा : तुम चलकर जाते हो तो क्या, ढोकर तो हमीं लाते हैं, पर हमें क्या मिलता है, यह अकेला मुंह सब कुछ चट कर जाता है। उन्होंने भी अपना काम छोड़ दिया और इस तरह एक के बाद एक सभी ने छुट्टी की, पर पेट खाली रहा तो शाम को ही सब पर सुस्ती की छाया पड़ी। दूसरे दिन बेचैनी हुई और तीसरे दिन तो सबके सब दम ही तोड़ने लगे।

हँसकर पेट ने कहा - क्यों भाई, कुछ आया मज़ा ? तुम समझते थे कि सब कुछ मैं अकेला ही अपने थैले में रख लेता हूं। अरे भोले भाइयो, यह तो सहकार की बात है। तुम सब अपना काम करके मुझ तक कुछ पहुँचाते हो और मैं अपना काम करके तुम तक कुछ पहुँचाता हूं और यों हम सब एक-दूसरे को जीवित रखते हैं।

इसी का नाम सहकार-भावना है। अंगों ने समझा और उठकर अपने-अपने काम में लगे। बस जो हाल शरीर का है, वही समाज का है। यहाँ भी सब अपना-अपना काम करते हैं, तो समाज ठीक चलता है। नहीं तो समाज के संगठन में शिथिलता आ जाती है। अब यह बात साफ़ है कि जिसमें सहकार-भावना नहीं है, वह समाज का शत्रु है और उसे समाज से जीवनशक्ति ग्रहण करने का कोई अधिकार नहीं है।"

"अच्छा, इस सहकार-भावना का मनोवैज्ञानिक स्वरूप क्या है ?"

"असल में अब आये हैं आप ताल पर। मैं बहुत खुश हूं कि अब आप बातचीत में गहरे उतर रहे हैं।

तो सुनो, सहकार-भावना का मनोवैज्ञानिक स्वरूप यह है कि एक आवाज उठी कि यह काम है और तुरन्त दूसरी आवाज आयी कि लो, मैं भी आ गया।

रह गये, नहीं आया समझ में कि यह क्या कह गया मैं। लो, मैं एक और कोशिश करता हूं।

शाम और मझुने जिन्दगी में आते ही रहते हैं। वे आयें और बिना हुए पड़े रहें, यह बीमारी की निशानी है। बीमारी मनुष्य की और

बीमारी समाज की भी। स्वास्थ्य की निशानी यह है कि कोई काम सामने आया कि एक आवाज उठी : आओ करें; इस आवाज का अकेला रह जाना भी बीमारी की निशानी है। इस आवाज के साथ ही बहुत-से कण्ठों की यह आवाज आये लो हम भी आ गये, तो इसका अर्थ हुआ कि यहाँ अब कोई काम अधूरा नही रह सकता।"

"अच्छा, यह पहली आवाज किसकी हो ?"

"शाबाश ! यह पूछा है आपने एक लाख रुपये का प्रश्न। सच यह है कि बातचीत ऐसे ही प्रश्नों से जमती है। जमती भी है और खिलती भी है।

पहली आवाज उसकी हो, जो उस काम को पहले देखे या समझे कि यह काम है, जो होना चाहिए। जो पहली आवाज लगाये, वही नेता। बाद में यह कहनेवाले तो हो ही जाते हैं कि लो, हम भी आ गये।"

"और क्यों जी, अगर पहली आवाज सुनकर कोई पीछे न आये ?"

"ठीक है यह आशंका, पर इसका उत्तर बड़ा सरल है। जिसने पहली आवाज लगायी है, वही पहला हाथ और पहला कदम भी उठाये। मतलब यह कि वही उस काम को आरम्भ कर दे और करता चले।

उत्तर प्रदेश के एक जिले में एक पुराना तालाब फिर से खुदना था। कई गाँव के किसानों के लिए यह जीवन-मरण का प्रश्न था, पर कोई उधर ध्यान नही दे रहा था। बाबा राघवदास ने इसे अनुभव किया और एक फावड़ा और एक टोकरी लेकर वे उसे खोदने लगे। एक आदमी और कई बीघे का तालाब ! चिड़िया का समुद्र शोषण है, पर उस सन्त ने इधर ध्यान नही दिया और प्रातःकाल दो-तीन घण्टे रोज वे अपना काम करते रहे। बस तीन दिन में ही यह बात गाँव-गाँव मे फैल गयी और हजारों फावड़े, हजारों टोकरियाँ और इससे भी बढ़कर हजारों हृदय आ जुटे और देखते-देखते तालाब खुद गया। हमारे देहातों में एक नाद-पूर्ण कहावत है जो देखे सो पूरे ! मतलब यह कि दीपक को जो टूरता

देखे, वही उसकी बत्ती को ठीक कर दे और तेल डाल दे, किसी की प्रतीक्षा न करे और न किसी पर हुक्म ही चलाये। अरे भाई, दीपक सबका है, जो देखे सो पूरे। इसमें और किसी बात की गुंजाइश ही कहाँ है?

इसमें एक शर्त भी है कि जो महसूस करे, औरों को पुकारे और पहला हाथ खुद बढाये, उसका हृदय और भावना शुद्ध हो, क्योंकि ऐसा न हो तो उसका बढ़ा हुआ हाथ कार्य का निर्माण नहीं, नाश हो करेगा।"

"यह क्यों?"

"इसमें क्यों कुछ नहीं, यह तो एक जीवन का सत्य है और यह सत्य पूरी तरह से एक लोक-कथा में लिखा हुआ है। एक यज्ञ में दूध की आवश्यकता थी। राजा ने आज्ञा दी कि हर एक आदमी कल ब्रह्मवेला में उपवन की हौज में एक-एक लोटा दूध डाल जाये, पर जो आदमी सबसे पहले दूध डाल गया, उसने सोचा—और सब तो दूध डालेंगे ही, मैं पानी का ही लोटा डाल दूँ, तो कौन पहचानेगा? वह पानी का लोटा डाल आया। राजा ने जब प्रात उठकर देखा, तो सारा हौज पानी से भरा था, क्योंकि नगर के सभी आदमी एक-एक लोटा पानी डाल गये थे; यही सोचकर कि और तो सब दूध डालेंगे ही। अन्त में राजा ने पता लगाते-लगाते उस आदमी को पकड़ लिया, जो सबसे पहले पानी डाल गया था और उसे फाँसी दे दी। राजा के वजीरों ने पूछा: यह काम तो सभी ने किया है। राजा ने कहा: उस पाप-भावना की लीक इसी ने बनायी, जिस पर बाद में सब लोग चलकर पतित हुए, इसलिए यही मुख्य पापी है।"

इस लोकगाथा में 'भावना की लीक' यह बहुत महत्त्व का शब्द है। यदि कोई तिरछी दागबेल डाल दे, तो सड़क तिरछी हो ही जायेगी। जो पहले आगे बढ़े, उसका काम है कि अपने को शुद्ध और सावधान रखे।

अहङ्कार-भावना असल में जीवन की एक कसौटी है। लो, फिर आपको ही इस कसौटी पर कसता हूँ। जब आपका कोई साथी भूल से

रपट जाता है तो आप क्या करते हैं ? हँस पड़ते हैं, तो आप भी उस बादशाह के एक खानदानी हैं, जो शहर जलते देखकर बंशी बजाया करता था। खड़े रहते हैं, तो अपाहिज, ध्यान ही नहीं देते, तो मिट्टी के लौंदे, घेरकर खड़े हो जाते हैं, तो पशु और बढ़कर उसे मदद देते हैं, तो मनुष्य !

अच्छा मान लो, आपकी बहन, माँ या पत्नी अभी खाना बनाकर उठी है और गरमी में पसीने से तर आपके लिए थाली परोसकर ला रही है। थाली रखकर वह पानी लायेगी और फिर पंखा, तो क्या तब तक आप बैठे-बैठे देखते ही रहेंगे ? हाँ, तो आप निश्चय ही पशु हैं और यदि उठकर पानी और पंखा खुद ले आयें, तो मनुष्य।

सहकार कोई एहसान नहीं है। यह असल में जिन्दगी का ताना-बाना है। ताना बाने से टिका है, बाना ताने से। दोनों का सहकार टूट जाये, तो दोनों सूत रह जायेंगे। लो, चलते-चलते आपको एक गहरी बात बताऊँ। सहकार प्रजातन्त्र है और असहकार फासिज्म। पहले का अर्थ है—मैं ही सब कुछ नहीं हूँ और दूसरे का स्वरूप है—मुझे किसी की जरूरत नहीं !



जब वे रौबी को कमरे में ले गये !

पण्डित आशारामजी एक सस्कारी पुरुष थे। देखने में ही राजा नहीं, वे मन के भी राजा थे। देवबन्द के तो वे सबसे बड़े आदमी थे ही, अपने सारे प्रदेश में भी उनकी धाक थी। वे सबको प्यार करते थे, सब पर उनका रौब पड़ता था। यों कहना काफ़ी होगा कि पुरानी पीढ़ी की सब खूबियाँ उनमें थी।

शाम को उनका घर राज-दरबार हो जाता। इस दरबार में बूढे भी होते, बालक भी, दर्जी भी, गरजी भी! मैं भी अकसर उनके यहाँ जाता। वे अपने बालकों की तरह ही हम सबको भी लाड करते। जिन दिनों की बात मैं कह रहा हूँ, एक ईसाई नवयुवक भी उनके यहाँ आया करता था। उसे हम सब रौबी कहा करते—पता नहीं यह उसके किस नाम का सक्षेप था। वह कहीं बाहर पढ़ता था और छुट्टियों में ही वहाँ रहता था। पण्डित जी उसे भी हमारी ही तरह मानते और खिलाते-पिलाते। वे बहुत ही प्रेमी स्वभाव के मनुष्य थे।

एक दिन शाम को बैठे थे, गपशप हो रही थी कि रौबी आया। उसके हाथ में एक छोटा-सा फूलों का गुच्छा था—निश्चय ही वह पण्डित जी के बाग से तोड़ लाया होगा। जाने रौबी को क्या सूझी कि वह सीधा पण्डित जी की कुरसी तक पहुँच गया और शोखी के साथ गुलदस्ता उनकी ओर बढ़ाकर बोला : "लीजिए, यह आपको इनाम देता हूँ।"

पण्डित जी ने तेज़ी से रौबी की तरफ देखा और मैंने पण्डित जी की तरफ। गुस्से से उनका प्रभावशाली चेहरा तमतमा रहा था। मैं पण्डित जी का स्वभाव जानता था। मैंने मान लिया कि अब रौबी पर चमड़े का

हृण्टर बरसेगा, पर जाने कैसे पण्डित जी ने अपने को सँभाल लिया और उठकर पास के कमरे मे चले गये। वही से गुर्राये · "रौबी, यहाँ आ !"

मैंने सोचा : शायद मरम्मत की मुनासिब जगह भीतर समझी गयी है। रौबी भीतर चला गया, पर न तो हृण्टर की सपसपाहट सुनाई दी, न थप्पड़-घूँसों की धमकधम और दस मिनट में दोनो बाहर चले आये। गौर से देखा : पण्डित जी शान्त थे और रौबी गम्भीर। कुछ समझ में न आया कि भीतर क्या हुआ ?

मैं बैठा रहा। रात में दस बजे जब भीड़ छँट गयी, तो मैंने धीरे से पूछा : "पण्डित जी, आपने भीतर ले जाकर रौबी को क्या कहा था ?"

बोले . "बदमाश मुझे इलाम दे रहा था। आज उसे हृण्टरो से रँगता, पर मुझे उसके बूढे बाप का खयाल आ गया बेटा !"

मैंने कहा : "जी हाँ, यह तो ठीक है, पर आपने उसे भीतर ले जाकर क्या कहा था ?"

बोले "मैंने उससे कहा कि तुम अभी बालक हो। बडे आदमियों में बैठते हो, तो बडो बात सीखो और याद रखो कि किसी तरह भी मर्यादा मे जो तुमसे बडे है, वे तुम्हारे साथ समानता का व्यवहार करते हैं, तो उसे उनकी कृपा समझो, अपना अधिकार नही।"

मैं उनके पैर छूकर चला आया। चलते-चलते मैंने मन में सोचा : रौबी घाटे में रहा हा या लाभ में, मुझे तो जीवन का एक बहुत कीमती मोती आज मिल ही गया : "किसी तरह भी मर्यादा में जो तुमसे बडे हैं, वे तुम्हारे साथ समानता का व्यवहार करते है, तो उसे उनकी कृपा समझो, अपना अधिकार नही।"

कृपा सिर झुकाकर, नम्र भाव से, कृतज्ञता के साथ, स्वीकार की जाती है और अधिकार का हम मनमाना उपयोग कर सकते हैं। कृपा वह है, जो हमें किसी से प्राप्त हो, अधिकार वह जो हमारा अपना हो। जो हमें किसी मे प्राप्त है, वह सँवारकर रखने और सँभालकर खर्च करने की चीज है और जो हमारा है, उसे हम चाहे जैसे रखें, जैसे बरतें—हाँ,

उपयोग दुरुपयोग न हो जाये, यह सावधानी तो रखनी ही पड़ेगी। यों पाबन्दी दोनों में है, पर पहले में वह नैतिक है, दूसरे में वैधानिक है। उचित पाबन्दी को निभाकर चलना उतना ही कल्याणकारी है, जितना अनुचित पाबन्दी को तोड़कर चलना और यों मर्यादा और विद्रोह जीवन-सरिता के दो स्थायी तट हैं। कब हम इस तट, कब हम उस तट, इस प्रश्न में कब का, अवसर का, ज्ञान ही हमारी कसौटी है। हम मर्यादा को तोड़ते हैं, तो उच्छृंखल हो जाते हैं और बन्धन को तोड़ते हैं, तो विद्रोही। उच्छृंखल दण्ड का और विद्रोही वन्दना का अधिकारी है।

बैंक में मेरे एक मित्र का पुत्र काम करता है। मैं एक दिन बैंक गया, तो उसने कहा: 'नया जीवन' मुझे बहुत अच्छा लगता है, पर पढ़ने को नहीं मिलता। मैंने उसे बिना मूल्य 'नया जीवन' ले लेने को कह दिया। तीन-चार दिन बाद मैं फिर बैंक गया, तो उसे देखकर मुझे उसकी बात याद हो आयी। 'नया जीवन' की प्रति मेरे बैग में थी, मैंने उसे दे दी। इसके दूसरे मास वह मुझे मार्ग में मिला और माँगकर उसने मुझसे 'नया जीवन' ले लिया।

तीन-चार महीने बाद मैं एक दिन फिर बैंक गया, तो वह बोला: "आपने कई महीने से हमें 'नया जीवन' ही नहीं दिया!" उसके चेहरे पर रोष था, वाणी में तीखापन और मुद्राओं में शिकायत। सब मिलाकर एक ऐसा भाव कि जैसे मैं उसका जेवर मँगनी लाया था, पर वह मैंने लौटाया नहीं और वह उस अभद्रता के लिए मेरी भर्त्सना कर रहा है।

मैंने उसे जरा ध्यान से देखा कि मुझे पण्डित जी कि वह सीख याद हो आयी: "किसी तरह भी मर्यादा में जो तुमसे बड़े हैं, वे तुम्हारे साथ समानता का व्यवहार करें, तो इसे उनकी कृपा समझो, अपना अधिकार नहीं।"

मेरे मित्र हैं श्री महावीर त्यागी। मानव की समानता के हामी और बहुत ही प्रेमी। उन्होंने घरेलू काम के लिए एक नौकर रखा। समय की बात, पहले ही दिन उसे बुखार चढ़ आया। त्यागी जी ने उसे दूसरे दिन

सुबह नहीं उठाया, स्वयं उठकर चाय बनायी और एक गिलास उसे दिया। बाद में उठकर उसने थोडा-बहुत काम किया। दो-तीन दिन तक तक उसकी तबीयत खराब रही, यही सिलसिला रहा। चौथे दिन सुबह त्यागी जी लेटे रहे; क्योंकि उनका नौकर अब स्वस्थ था और उन्हें आशा थी कि आज वही उठकर चाय बनायेगा, पर वे उसके उठने की बाट जोह ही रहे थे कि उनके कानों ने सुना : "बाबू जी, आज चाय नहीं बनाते !" त्यागी जी ने उठकर देखा : अपनी बुक्कल में मुँह छिपाये, उनका नौकर उन्हें उनके कर्तव्य की याद दिला रहा है। वही बात, वह उनकी कृपा को अपना अधिकार मान बैठा !

यह बेवकूफी भी है, बदमाशी भी, पर दोनों ही दशाओं में इसकी समान प्रतिक्रिया है यह कि मनुष्य अपनी उदार भावना पर ब्रेक लगाने की आदत डालने लगता है और इसका अर्थ यह हुआ कि हम कृपा को मूर्खता से अधिकार मानें या धूर्तता से, दोनों हालतों में उससे समाज की उदारता का कुछ न कुछ अंश कम करते हैं।

हजरत उमर खलीफा की गद्दी पर थे। यों कहने को ही वे खलीफा थे, असल में बादशाह थे—हजरत पैगम्बर मुहम्मद के पूरे प्रतिनिधि। पड़ोस के किसी बादशाह से उनकी लड़ाई चल रही थी—फ़ैसले की बातचीत के लिए उन्हें बुलावा आया, तो अपने ऊँट पर चढ़ चले।

वे ऊँट पर सवार और उनका गुलाम नकेल पकड़े आगे। चार कोस गये कि उनके हुक्म से ऊँट रुका। वे नीचे उतरे और गुलाम के हाथ से नकेल लेकर बोले : "अब तू बैठ जा ऊपर, मैं नकेल लेकर चलूँगा।" गुलाम धक कि मुझसे क्या खता हुई, जिसकी यह सजा है !

उसने भरे गले से कहा : "मेरे आक़ा, मेरे पीर, मेरे मालिक, मुझे माफ करो।"

हजरत ने उसका कन्धा प्यार से थपथपाकर कहा : "बैठ जाओ ऊपर, अब थोडी दूर मैं पैदल चलूँगा, आखिर तुम भी तो उसी खुदा के बन्दे हो।"

मालिक का हुक्म, गुलाम ऊँट की पीठ पर और दुनिया-भर के मुसलमानों का खलीफ़ा नकेल थामे आगे-आगे। यों ही उतरते-चढ़ते खलीफ़ा उस बादशाह की राजधानी में पहुँचे और किस्मत का करिश्मा कि राजधानी में पहुँचे, तो नकेल खलीफ़ा के हाथ में और गुलाम ऊँट की पीठ पर!

बादशाह के वजीर-वुजरा गुलाम को सलाम करने लगे, तो घिघियाकर उस बेचारे ने कहा : "अरे, मैं तो गुलाम हूँ, हज़रत खलीफ़ा तो वे हैं, जो नकेल थामे हैं।"

विरोधी बादशाह ने सुना, तो वह सुन्न हो गया—जो अपने गुलाम के साथ ऐसा व्यवहार करता है, उससे लड़कर कौन जीत सकता है और उसने बिना शर्त अपने को हज़रत उमर के क़दमों में सौंप दिया।

गुलाम के साथ मालिक की यह कृपा है, पर कल वह इसे अपना अधिकार मान ले और किसी दिन आगे चलते-चलते ऊँट थामकर खलीफ़ा से कहे : "ज़रा नीचे आइए, मैं थक गया हूँ और लीजिए, यह नकेल थामिए, मैं ऊपर बैठ रहा हूँ।" तो खलीफ़ा की उदारता भले ही समुद्र-सी गहरी और हिमालय-सी ऊँची हो, वह उसी क्षण कृपण हो उठेगी और दूसरे ही दिन हम उनके व्यवहार में एक ऐसा अन्तर पायेंगे, जिसे पचाना हमारे लिए सुगम न होगा।

आवश्यकता है कि हम दूसरे की ढील देखकर अपने को ढील न दें, क्योंकि ढील भी मशीन के एक पुरज़े की तरह है, जो अपनी ही जगह फ़िट होकर काम देता है, हर जगह नहीं और यह बात तो हर पतंगबाज़ जानता है कि छोटी पतंग बेमौक़े ढील देने पर पेटा खा जाती है।

अपने एक कार्यकर्ता मित्र को मैं अपने राज्य के एक मन्त्री से मिलाने ले गया। मैं उनकी मूक साधना का वर्णन माननीय मन्त्री से कर चुका था। हम दोनों के बड़े कमरे में घुसते ही उन्होंने मेरे मित्र को अपने पास बुलाया। मेरे मित्र ने दरवाज़े पर ही जूता निकाल दिया। मैंने कहा : इसकी ज़रूरत नहीं, तो गम्भीरता से बोले : मुझे अपने जूते की क़ीमत मालूम है।

जब-जब किसी को किसी बड़े की उदारता का दुरुपयोग करते देखता हूँ, इन मित्र की याद आ जाती है और इसके साथ ही याद आ जाते हैं वे ब्रह्मचारी जी जो बहुत बड़े शाक्त बना करते थे। एक राजा साहब से मैंने उनका परिचय करा दिया। राजा साहब शाम को थोड़ी-सी पी लिया करते थे और ब्रह्मचारी जी के लिए तो बोतल कर्मकाण्ड ही थी।

एक दिन हम दोनों शाम के समय राजा साहब के यहाँ जा निकले। राजा साहब ने गिलास ब्रह्मचारी जी के सामने किया कि मेरे इशारा करते भी उन्होंने हाथ बढाया और जाने कितने टन-टूमन करने के बाद पहली घूंट भरी। मैंने देखा : ब्रह्मचारी जी ने पहली घूंट में जो सुस्ती बरती थी, बाद में गिलास पर गिलास उँडेलने में उतनी ही चुस्ती बरती।

पेट भरा, तो दिमाग खिला। अब वे काली माई के पास थे और राजा साहब का नाम लेकर तू-तेरा में बोल रहे थे। मुझे यह बुरा लगा, पर राजा साहब 'हाँ महाराज' ही कहते रहे। दूसरे दिन से ब्रह्मचारी जी राजा साहब का नाम लेकर पुकारना अपना अधिकार मानने लगे।

एक दिन ब्रह्मचारी जी मिले, तो मुँह सूजा हुआ था। बोले : जोड़ मे कई दिन से दर्द है, पर शाम को राजा साहब मिले, तो बोले : "भैया, कल हमने ब्रह्मचारी जी की काली उतार दी। कल वह आया, तो कई दोस्त बैठे थे। लगा नाम लेकर पुकारने और तू-ताम बाँधने। हमने बाहर बरामदे में बुलाकर जबडे पर एक घूँसा दिया और बाहर की राह दिखा दी।"

अब तीन प्रयोग हमारे सामने हैं। पहला हमारे कार्यकर्ता मित्र का, जो कभी अपने जूते की कीमत नहीं भूलते। दूसरा पण्डित जी का, जो भूलनेवाले को इशारा दे देते हैं और तीसरा राजा साहब का, जो भूलने-वाले को भूलना भुला देते हैं, पर एक चौथा प्रयोग भी है, जो हमारे लोक-जीवन में बिनलिखा सुरक्षित है।

साँप एक दिन ऋषि के पास जा बैठा। ऋषि ने उसे अहिंसा का उपदेश दिया। साँप ने व्रत ले लिया कि अब वह किसी को न काटेगा।

ऋषि अपनी यात्रा पर चले गये और साँप के व्रत की बात सबको मालूम हो गयी। लड़के उसे उठा लेते और घण्टों तोड़ते-मरोड़ते। एक दिन एक ग्वाले ने उसे अपनी गाय के सींगों में बाँध दिया और दिन-भर गाय झाड़ियों में सींग मारती रही—बेचारा लहूलुहान होकर बड़ी मुश्किल से शाम को छूटा, पर दूसरे दिन लड़कों ने उसे फिर खींच लिया और उसके मुँह में रेत भर दिया।

लड़के उसकी आँखों में सींक देकर उसे अन्धा करनेवाले ही थे कि ऋषि उधर आ निकले। मोटा-पतला साँप लटकर रस्सी हो गया था और रूप बदरूप।

खिन्न होकर बोले . "अरे यह क्या हुआ तुझे साँप ?"

"महाराज, आपने ही तो अहिंसा का उपदेश दिया था !" साँप ने भक्ति-भाव से, पर कातर स्वर में कहा।

ऋषि समझ गये कि क्या हुआ है उसके साथ और बोले : "अरे मूर्ख, मैंने यही तो कहा था कि काटना मत, पर यह कहाँ कहा था कि फुंकारना भी मत।"

साँप समझ गया और आज बहुत दिन बाद उसने फन उठाकर फुंकार मारी। बस, सारे खिलाड़ी नौ-दो-ग्यारह और साँप अब व्रती भी और मौज में भी।

मतलब यह कि उदार रहो, कृपा करो, सबके साथ समानता निबाहो, पर सस्ते न बनो, अपना भेद न दो कि दूसरे सिर पर से रास्ता करने की ठानें।

हमारे राष्ट्र के महाकवि कालिदास ने महाराज दिलीप के वर्णन मे कहा है -

"भीमकान्तैर्नृपगुणै स· बभूवोपजीविनाम् ।
अधृष्यश्चाभिगम्यश्च यादोरत्नैरिवार्णव· ॥"

दिलीप में भयंकरता भी थी और कमनीयता भी, इसलिए उसके आस-पासवाले न उसकी अवज्ञा कर सकते थे, न उपेक्षा; जैसे भयंकर

जल-जीवों के कारण लोग समुद्र को मथ नहीं सकते, पर रत्नों के कारण छोड़ भी नहीं पाते।

कवि ने अपनी बात कविता में कही, पर लोक-सभा में बिना कविता की कविता गायी गयी है : 'न गुड़-सा मीठा, न नीम-सा कड़वा!' न ऐसा ही बन कि निगला जाये और न ऐसा ही बन कि तुझे लोग थूक दें।

कवि का काव्य और लोक-भाषा का उपदेश पढ़कर मुझे याद आ जाते हैं स्वर्गीय पण्डित आशाराम जी और रौबी को कमरे मे ले जाकर कहा गया उनका वाक्य : "जो तुमसे मर्यादा में किसी तरह भी बड़े हैं; वे तुम्हारे साथ समानता का व्यवहार करें, तो इसे उनकी कृपा समझ, अपना अधिकार नहीं।" और तभी वे ब्रह्मचारी जी, जो उस दिन मुंह फुलाये मुझे राह मे मिले थे!

मैं सोचता हूँ, यह रोग और उसकी पूरी चिकित्सा है।



लाल सेना की हवाई उड़ान के नीचे

लाल सेना की हवाई उडान के नीचे हिटलर की तरह वह अडिग अकम्प बैठा अपना काम करता है, जैसे यहाँ कुछ भी भयंकर या अशान्तिकर नहीं है। पूरी बात सुनकर आप कहेंगे कि हिटलर की उपमा में अतिशयोक्ति है, बात बढा-चढाकर कही गयी है, पर मैं भी उत्तर के लिए तैयार हूँ कि कहूँगा – बेशक वह हिटलर नहीं है, एक मामूली दूकानदार है, पर मेरे वाक्य की लाल सेना भी तो रूस की वीर लाल सेना या अँगरेजी सरकार की पुलिस के लिए भूत १९४२ के विख्यात विद्रोही मगनलाल की सेना नहीं है, लाल ततैयों की फौज ही है।

फिर बहस की क्या बात है, आप पूरी बात जो सुन लें।

मोरगंज की मण्डी में एक गुड-शक्कर की दूकान है और उसका मालिक है, एक पतला-दुबला दूकानदार। मैं अकसर देखता हूँ कि उसकी दूकान पर, दूकान के बाहर सडक पर, हजारों लाल ततैयो की हवाई उडान जारी रहती है और उसके बीच में बैठा दूकानदार अपना काम करता रहता है। मैं उसकी दूकान के सामने से निकलता हूँ, पर दूर-दूर और बहुत सावधानी के साथ, हाथ-पैर बचाकर। फिर भी एक दिन एक दुर्घटना हो ही गयी।

मैं बचा-बचा जा ही रहा था कि देखता हूँ एक ततैया; सच मानिए, एकदम बमवर्षक-सा मेरी ओर बढा आ रहा है। मैं भी अपने को तीस-मारखाओं में शुमार करता हूँ, इसलिए मैंने हथेली की ढाल से उसे पीछे ढकेल दिया, पर मैं अपनी बहादुरी की तारीफ़ भी अभी न कर पाया था कि देखा वह अपने एक साथी के साथ पूरे वेग से मेरी ओर आ रहा है।

आ रहा है क्या, वे दोनो आ गये और मुझपर झपटे। मेरी होश गुम, पर विपत्ति के समय भी प्रयत्न करना मेरा स्वभाव है, इसलिए मैं अन्धा-धुन्ध दोनों हाथ चलाने लगा; जैसे घूंसेबाजी कर रहा हूं।

अब मैं पसीने से तर हूं, विवेक मुझे है नही और हाथ बराबर फेंक रहा हूं। अचानक मुझे लगा कि वे दोनों बस मेरी गरदन पर लिपटने को हो हैं। बस, मैंने दोनों कुहनियों के बीच मे कर लिया अपना मुंह और गरदन को लपेट लिये दोनों हाथ – बिलकुल वही मुद्रा, जैसे पाधा जी के यहां बच्चे सबक याद न करने पर कान पकडते हैं।

"बाबू जी, आपने यही तो गलती की, जो हाथ हिलाये। हाथ हिलाने से ये और ऊपर आते हैं।"

यह एक पल्लेदार की आवाज थी, जो राह चलते इधर आ निकला और जिसने हाथ के एक इशारे से उन दोनो को भगाकर मेरी जान बचायी थी। मैं इतनी देर में काफी अस्त-व्यस्त हो गया था, इसलिए पानी पीने के लिए पास की दुकान पर बैठ गया। नौकर पानी लेने गया है और मैं सामने ही देख रहा हूं कि हजारों ततैयों की भीड में वह दुकानदार गुड तौल रहा है।

एक ततैया उसके कान पर बैठ रहा है, जरूर काटेगा, पर नहीं, वह उड गया। एक दूसरा उसकी नंगी खोपडी पर बैठ गया। अब भिन्ना जायेगा इसका सिर, पर नही वह भी उड गया। वह गुड तौल रहा है और मैं देख रहा हूं कि उसे जो डला तराजू पर चढाना है, उसपर दस-बीस ततैये जमा है। दूकानदार ने उंगली के हलके इशारे से वह डला हिलाया और अरे, वे सब उडकर दूसरे डलों पर जा बैठे!

पानी पीकर मैं चला आया; यह सोचता हुआ कि इस दूकानदार को ततैये कीलने का मन्त्र सिद्ध है या इन ततैयों से इसकी दोस्ती है?

श्रद्धेय श्री स्वामी कृष्णानन्द जी ने बहुत दिन हुए अपने प्रवचन में कहा था: एक बार भगवान् बुद्ध सायंकाल के समय एक मठ में पहुँचे और रात-भर के लिए स्थान मांगा। मठाधीश कट्टर हिन्दू महन्त था।

वह बुद्ध को देखकर जल गया और घृणा से बोला : "उस नदी-तटवाली कोठरी में स्थान है, तुम्हें पसन्द आये, तो वहाँ टिक सकते हो!"

बात यह थी कि उस कोठरी में एक साँप रहता था, जो कई आदमियों को काट चुका था। महन्त के यहाँ जो मालदार यात्री आ फँसता, वह इस कोठरी में ठहराया जाता। प्रातःकाल यात्री की लाश नदी में फेंक दी जाती और मालमता महन्त अपनी सन्दूक में रख लेता।

भगवान् बुद्ध ने वहाँ निवास किया। रात में जब वह भयंकर साँप निकला, तो भगवान् ध्यान-मग्न थे। साँप उनके सामने आया, फुंकारा, घेरे उन्हें क्यों? उनका ध्यान न टूटा। साँप क्रोध में अन्धा होकर सिर पटकने लगा और मर गया। प्रभात में जब महन्त भगवान् को नदी में फेंकने आया, तब उसने देखा भगवान् अब भी ध्यान-मग्न हैं और साँप मरा पड़ा है।

महन्त के रोम-रोम में एक प्रश्न उठा : यह क्या?

मेरे मन में भी बार-बार यह प्रश्न उठता रहा कि ध्यान-मग्न भगवान् बुद्ध को साँप ने काटा क्यों नहीं, पर एक दिन एक दृश्य मैंने स्वयं देखा। मैंने एक कुत्ता पाल लिया। कुत्ता क्या भेड़िया था। उसकी एक ही गुर्राहट में आनेवाली रूह कब्ज़ हो जाती थी। सुबह-शाम हम उसे घर के भीतर रखते और दोपहर को बाहर छज्जे पर बाँध देते। इस छज्जे पर से तीसरी मंज़िल में जाने का रास्ता था और दोपहर में ऊपर कोई आता न था।

एक दिन अचानक दोपहर को गाड़ी से बाबा मधुसूदनदास आ गये। वे हैं थानेदार! उन्होंने मुझे पूछा और ऊपर चले। बच्चों ने यह देखा और कुत्ते की ओर से उन्हें सावधान किया, पर वे ऊपर की ओर चल चले। उनकी आवाज़ सुनकर मैं भी (तीसरी मंज़िल पर) कमरे के बाहर निकल आया। अब मैं देखता हूँ कि वे 'टाइगर' की ओर दृढ़ गति से बढ़े चले आ रहे हैं और वह खड़ा तो हो गया है, पर भौंकता नहीं। मैं बोलने को हूँ ही कि वे उसके पास आ गये और बिना उसकी ओर देखे

आगे निकल आये।

"टाइगर ने आपको कुछ नहीं कहा ?" मैंने पूछा तो बोले : "यह तो टाइगर है, हमे तो भइया, चोर-डाकुओं में जाना पड़ता है !"

जो 'टाइगर' किसी के दहलीज मे आते ही हुंकार उठता है, वह चाचा जी के पास आने पर भी क्यों चुप रहा, क्या यह एक जरूरी सवाल नहीं है ?

क्रान्तिकारी शहीद श्री रामप्रसाद 'बिस्मिल' उस दिन किसी स्टेशन से गाड़ी में चढ़नेवाले थे और किसी तरह पुलिस को यह सुराग मिल गया था। स्टेशन को पुलिस ने घेर रखा था, पर उनमें से कोई बिस्मिल को पहचानता न था। समय पर बिस्मिल साहब आये—सूट, बूट, हाथ में हण्टर; एकदम साहब। फर्स्ट क्लास का टिकट और सूटकेस कुली के सिर पर। प्लेटफॉर्म पर आते ही कुली ठोकर खा गया। अटैची सिर पर से गिरी और उसमें रखा रिवाल्वर प्लेटफॉर्म पर निकल पड़ा। पुलिस अफसर उधर झपटा और सारी स्थिति बिस्मिल के सामने, पर घबरा गया, तो क्रान्तिकारी क्या ? बिस्मिल साहब ने बिना सामान की तरफ ध्यान दिये कुली पर हण्टर बरसाने शुरू किये। कुली पिट रहा है, लोच रहा है और वे चिल्ला रहे है "सुअर, मेरा माउजर टूट जाता, तो क्या होता !" पुलिस-अफसर का सन्देह दूर हो गया और उसने आगे बढ़कर रिवाल्वर अटैची में रखा और कुली से सामान फर्स्ट क्लास में रखवा दिया। बिस्मिल ने अफसर को धन्यवाद दिया और अपने डिब्बे में जा बैठे।

शिकार को अपने हाथ में पाकर भी पुलिस-अफसर क्यो चूक गया ?

चारो उदाहरण अपने-अपने ढंग पर अलग-अलग क़िस्म के है, पर उन चारों से जो चार प्रश्न उठकर हमारे सामने आते हैं, उनका उत्तर हम एक शब्द में पा सकते है और वह शब्द है स्थिरता ! स्थिरता, यानी संकट का, चिन्ता का, समय होने पर भी अपने मन को, विवेक को, सोच-विचार की शक्ति को स्थिर रखना।

"विकारहेतौ सति विक्रियन्ते
येषां न चेतांसि त एव धीराः ॥"

"घबराहट का अवसर होने पर भी जिनके मन अस्थिर नहीं होते, वे ही वास्तव में धीर पुरुष हैं।" यह धीरता कुछ लोगों में स्वभाव से ही होती है और जिनमें नहीं होती, वे भी अभ्यास से इसे बहुत कुछ पा सकते हैं। इसका एक उदाहरण स्वयं मैं हूँ।

बचपन में मैं बहुत डरपोक था, क्योंकि मेरी माँ लाड के कारण मुझे मनुष्य नहीं, चिडिया का बच्चा समझती थी। शाम होते ही मैं घर आ जाता था। अँधेरे के नाम से भी मैं घबराता था और मुहल्ले से बाहर तो मैं दिन में भी नहीं जा सकता था। बड़े होने पर मैंने धीरे-धीरे अपने को सबल किया और उसी का फल है कि जिन परिस्थितियों में बहुत-से लोग प्राण छोड देते हैं, आज मैं उनमें हँस सकता हूँ—हँसता रहा हूँ।

धीरता प्राप्त करने का सर्वोत्तम उपाय ईश्वर-विश्वास है। जो भगवान् करेंगे ठीक है, मेरा काम केवल काम करना है, इस तरह का चिन्तन मनुष्य को धैर्य देता है और धीरे-धीरे धैर्य आदत हो जाती है। जब जीवन में अधीरता की कोई घटना हो, तो बाद में उसपर एकान्त में बैठकर कुछ देर पछताइए—बात ही क्या थी कि मैं घबरा गया, भविष्य में ऐसे अवसर पर मैं शान्त रहूँगा, इस तरह के विचारों से चरित्र बनता है। दण्डस्वरूप एक समय या एक दिन का भोजन छोड दीजिए, तो जल्दी सफलता मिलेगी, आ-पडे संकटो को सुगम भी करेगी।

घबराये मनुष्य! तेरे भीतर ईश्वर की विभूति है, खुदा का नूर है। मन को शान्त कर, हाथों की मुट्ठियाँ बाँध, अपने रास्ते पर पैर बढा। रास्ते की रुकावटें, कायरों के लिए ही रुकावटें हैं। धीर पुरुष के लिए वे रास्ते की सीढियाँ बन जाती हैं। विपत्तियों को दूर या पास से देखकर हाथ-पैर न फुला। अपने मन को पकडे रह। भगवान् बुद्ध की आत्म-साधना हमारे पास भले ही न हो, गुडवाले दूकानदार, मेरे चाचा थानेदार और बिस्मिल की स्थिरता तो हम सब मनुष्यों की अपनी ही चीज है। हम

बिना टिकट सफर नहीं कर रहे हैं। टिकट हमारे पास है, इस जेब में नहीं, तो उस जेब में, वहाँ नहीं मिलता, तो स्टेशन पर हम उसे पा ही लेंगे। यह जो अचानक चलती रेल में टिकट-चेकर आ गया हुआ है, इससे हम क्यों झेंपें, क्यों घबरायें?



मैं यह हूँ, मै वह हूँ !

हिन्दी के एक प्रख्यात कहानी-लेखक से उनके एक साथी ने एक बार पूछा कि आपकी अपनी अमुक कहानी के सम्बन्ध में क्या राय है ?

कहानी-लेखक महाशय बोले : "मेरा काम कहानी लिखना है, सो मैंने कर दिया। अब उसपर सम्मति देना कि वह कैसी रही, यह आपका काम है। भला अपना काम आप मुझसे क्यों कराना चाहते हैं ?"

इस प्रश्न और उसके उत्तर से स्पष्ट है कि लेखक के लिए पूरा अवसर था कि वह अपनी प्रशंसा स्वय कर सके, पर उसने उसका वैसा उपयोग नहीं किया। हम कह सकते हैं कि यह उसकी शालीनता थी और यो वह हमसे प्रशंसा पा गया।

एक दूसरे लेखक हैं। उनकी पुस्तक पढकर एक दूसरे साथी ने उनसे कहा : "आपकी यह पुस्तक बहुत अच्छी रही।" लेखक महोदय हाथ जोडकर खिसियाते-से बोले : "अजी, पुस्तक तो आपकी है। हम तो यो ही कागज काला करते हैं।"

इस प्रश्न और उसके उत्तर से यह स्पष्ट है कि लेखक अपनी पुस्तक की उस प्रशसा को काफ़ी नही समझता और अपनी सामाजिक चतुरता से वह अपने साथी को मजबूर कर रहा है कि वह उस पुस्तक की और अधिक प्रशंसा करे।

एक तीसरे लेखक हैं। अभी हाल में उनकी एक पुस्तक छपी है। उस दिन रास्ते में मिल गये और मिलते ही बोले : "भाई साहब, हमारी पुस्तक आपने पढी ?"

मैंने कहा : "हाँ देखी तो थी; खूब लिखते हैं आप!" बोले : "आज-

कल घूम है हिन्दी में उस पुस्तक की !" मुझे काम जाना था, इसलिए मैंने उन्हें धकेलते हुए-से कहा : "अरे साहब, आपकी धूम न होगी, तो किसकी होगी !" मेरा खयाल था कि अब वे मुझे जाने देंगे, पर उन्होंने ज़ोर से ठहाका मारकर हाथ मिलाने के ढंग पर मेरा हाथ थाम लिया और हाथ पकडे ही पकड़े बोले : "भाई साहब, हमारी यह पहली ही पुस्तक है और श्रीयुत् क, श्रीयुत् ट और श्रीयुत् श की कई-कई पुस्तकें निकल चुकी हैं, पर हमने उन्हें पहली पुस्तक में ही पछाड़ दिया है; यह सब आपकी कृपा है।"

अब बताइए; मैं क्या कहूँ ? क्या यह कहकर अपनी प्रतिष्ठा कम करूँ कि नहीं जी, मेरी कृपा में यह ताक़त कहाँ कि आपको सर्व-श्री क, ट, श को पछाड़ने की शक्ति दे सके या यह कहकर अपने ही हाथों अपने को बेवकूफ़ बनाऊँ कि हाँ जी, यह बात है, सचमुच आपने अपनी पहली ही पुस्तक में उन तीनो लँगरेजों को चारों खाने चित दे मारा है ? आखिर, क्या कहूँ मैं उनसे ?

"चुप रहूँ।" यह आपकी राय है, पर मालूम होता है कि आप राय के ही बहादुर हैं, तभी तो आपकी यह राय है। यह राय देते समय आपने इस बात पर ध्यान नही दिया कि मेरा हाथ उनके हाथ मे इस तरह दबा हुआ है; जैसे कन्यादान के समय दुलहिन का हाथ दुल्हे के हाथ में होता है कि दुलहिन चाहे, तब भी उसे खीच नही सकती ! फिर वहाँ तो सामाजिक मर्यादा का ही बन्धन होता है और यहाँ ताक़त का सवाल है। आप देख नहीं रहे है कि लेखक महोदय ने मेरा हाथ इस तरह कसकर चुस्त-चौकस थाम रखा है कि जैसे कोई समझदार डॉक्टर मेरे हाथ की टूटी हुई हड्डी का अन्दाज़ा ले रहा हो। तो मतलब यह है कि मैं कन्नी नही काट सकता और मौन धारण करके पीछा छुड़ाने का भी अवसर मुझे मिल जाये, यह सम्भव नही। यह देखिए, मेरे मित्र मेरा हाथ दबाकर मुझपर उत्तर का तकाज़ा कर रहे हैं। बात यह है कि मेरे मित्र समझदार है और खूब जानते है कि नीबू हो या सन्तरा, रस दबाव से ही

निकलता हूँ।

तो मुझे उनकी बात पर कुछ कहना ही पड़ेगा और उनकी बात है यह कि—"भाई साहब, हमारी यह पहली ही पुस्तक है और श्रीयुत् क, श्रीयुत् ट और श्रीयुत् श की कई-कई पुस्तकें निकल चुकी हैं, पर हमने उन्हें पहली ही पुस्तक में पछाड़ दिया है। यह सब आपकी कृपा है!"

सत्य की रक्षा का आश्वासन और असत्य को थपथपी देते हुए मैंने कहा : "जी, बहुत-से खिलाड़ी ऐसे भी होते हैं, जो फ़ील्ड में उतरते ही दर्शकों का मन मोह लेते हैं।"

लेखक महोदय के चेहरे पर मुसकान की लहर खेल गयी और तब उत्साह क्या, उल्लास में भरकर उन्होंने पूरे जोर से मेरा हाथ झकझोर दिया। मैंने इसे इस चौराहा-चौकड़ी का विदाईपत्र समझा और अपनी तरफ से भी इसमें अच्छा खासा हिस्सा लिया, पर मेरा यह सोचना मेरी भूल थी, क्योंकि मेरा हाथ अब भी उनके हाथ में, सच मानिए, उसी तरह दबा था, जैसे जिल्दसाज के शिकंजे में किताब कसी रहती है!

कसे ही कसे बोले : "भाई साहब, आपको मालूम है कि विख्यात समालोचक डॉ शिवकुमार शर्मा ने हमारी पुस्तक पर क्या सम्मति दी है?"

"जी, नहीं, मुझे मालूम नहीं" मैंने यह कहा, तो आश्चर्य से वे बोले : "वाह-वाह, उस सम्मति की तो आज-कल साथियों में धूम है और आपको उसका पता भी नहीं?"

मौन रहकर मुझे मानना पड़ा कि मुझसे साहित्य-देवता के मन्दिर में यह भयकर भूल हो गयी है कि अभी तक मुझे इनकी पुस्तक के सम्बन्ध में लिखी डॉ शर्मा की उस सम्मति का ज्ञान ही नहीं हुआ, जो किसी को नहीं दिखाया—हाँ, इन्हीं के शब्दों में जिसकी आज-कल साथियों में धूम है!

मेरे मौन को, प्रसन्नता की बात है कि उन्होंने काफ़ी गम्भीर प्रायश्चित्त मान लिया और बोले : "भाई साहब, डॉ. शर्मा ने कहा है कि इस

पुस्तक में जो निबन्ध संकलित किये गये हैं, उन्होंने हिन्दी में एक नयी शैली को जन्म दिया है, जो शताब्दियों तक भावी लेखकों को राह दिखायेगी।"

अब मैंने धार को काटने में मूर्खता और उसके साथ तैरने में अक्ल-मन्दी मान ली थी। तैराकी का आनन्द लेते हुए मैंने कहा : "वाह, तब तो यह निश्चय है कि ईसा की तीसवीं शताब्दी में निबन्धों के जो क्लासिकल संकलन छपेंगे, उनमें आपके निबन्धों को भी ऊँचा स्थान मिलेगा।"

लेखक महोदय फूलकर कुप्पा हो गये और फूट की तरह खिलकर बोले : "यह सब आपका आशीर्वाद है भाई साहब! अच्छा, आपको इस बारे में एक और बात बताऊँ ?"

मुझे तो अब जमकर तैरना था, इसलिए कहा : "हाँ, हाँ, जरूर बताइए, यह तो हमारी राष्ट्रभाषा के लिए बहुत ही गौरव की बात है।"

मैंने देखा कि उनके चेहरे पर एक नयी चमक ही नहीं आयी, स्वर भी भुरभुरा हो गया; जैसा कि अकसर आपने मोन दिये शकरपारे में अनुभव किया होगा।

बोले : "इसे आप अहंकारी बात न समझें, मेरा यह विश्वास है कि मेरे इन निबन्धों ने कहीं-कहीं तो विश्वविख्यात अमेरिकन निबन्ध-लेखक इमर्सन के निबन्धों को फीका कर दिया है।"

जरा रुककर बोले : "आप देख लीजिएगा कि आज नहीं तो कल, यह बात आलोचकों को झक मारकर स्वीकार करनी पड़ेगी और मेरे निबन्धों का अनुवाद शीघ्र ही संसार की सब भाषाओं में हो जायेगा।"

यह सब सुना तो मैं तैरना भूलकर अवाक् रह गया। अवाक्, जैसे पत्थर की मूर्ति। मेरे दिल की धड़कन ही धीमी नहीं पड़ी, आँखें भी खुली ही रह गयीं। मैं क्या सोच रहा था ? सच यह कि कुछ भी सोचने के लायक मैं नहीं था। एक मानसिक सन्नाटा मुझपर छा गया था!

हर आदमी दुनिया को अपनी ही आँख से देखता है और हर आँख

के देखने का अपना ढंग है। लेखक महाशय ने मेरे मानसिक सन्नाटे को वैसी मुग्धता समझी, जैसी कि अमरनाथ के निकट पहुँचकर एक भावुक के मन पर छा जाती है और तब स्वयं भी मुग्ध होकर वे बोले : "भाई साहब, आपको मालूम है कि यह पुस्तक मैंने कितने दिनों में लिखी है ?"

मैंने सिर हिलाया, तो बोले : "कुल साढे पाँच महीने मे ! लीजिए, पूरा हिसाब ही लो आपको दिये देता हूँ। १९ मार्च को पहला निबन्ध लिखा था और २४ जून को पुस्तक प्रेस में दी। यो समझिए कि आधे ही निबन्ध तब तक तैयार थे। इधर वे छपते रहे, उधर मैं आगे के लिखता रहा और इस तरह पुस्तक १४ सितम्बर को तैयार होकर बाजार में आ गयी !"

मैंने कहा : "भाई, आपने तो पाँच महीने में वो काम कर दिया कि दिल्ली से न्यूयार्क तक छा गये। सचमुच आप राष्ट्रभारती के वीर पुत्र हैं।"

यह मेरी कराह थी, पर आपसे कहा नही अभी मैंने कि हर आदमी दुनिया को अपनी ही आँखों से देखता है और हर आँख के देखने का अपना ढंग है। मेरी कराह में उन्हें संवर्धना के स्वर सुनाई दिये और हाथ छोड़कर उन्होंने मेरे पैर छू लिये। यह शायद इतनी देर मन लगाकर बात सुनने का पारिश्रमिक था।

जब लेखकों की बात चल निकली है, तो एक और सुन लीजिए। हमारे देश में ईसा की बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक भाग में एक ऐसे लेखक हो गये हैं, जिन्हें हमारे साहित्य का ही नही, हमारे राष्ट्र का इतिहास सदा आदर के साथ याद करेगा।

उन्होंने अपने उभरते दिनों में एक मासिक पत्रिका के विशेषांक का सम्पादन किया। विशेषांक में लेख थे, कविताएँ थी, गद्यगीत थे, आलोचनाएँ थी, परिचय थे, टिप्पणियाँ थी, यात्रावृत्तान्त थे, अनुसन्धानों की भूमिकाएँ थीं ..संक्षेप में, सर्वांगपूर्ण विशेषांक था यह। आलोचकों ने लिखा कि हरेक अधिकारी लेखक से ही लिखाकर सम्पादक महाशय ने इस

विशेषांक को एक गुलदस्ता बना दिया है।

बाद में धीरे से बात की पुड़िया खोल दी गयी कि ये सब रचनाएँ उन विशेषांक-सम्पादक द्वारा ही रची गयी थी। बस फिर क्या था, पत्रों मे इस समाचार की ही डौंडी नही पिटी, इस समाचार पर नफीरी भी बजायी गयी और अनेक कार्यालयो से एक साथ उन महाशय की चहुँमुखी प्रतिमा का जयघोष हुआ।

ये चार नमूने आपके पास हैं। इनमें विभिन्नता है, ये चारों अलग-अलग मानसिक मानदण्डो के प्रतिनिधि हैं, पर इनमें एक बात समान है कि सभी अपनी प्रशंसा चाहते हैं। इस समानता को देखकर क्या हम जीवन-शास्त्र का यह सामान्य-सूत्र रच सकते हैं कि आत्मप्रशंसा मनुष्य की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है ?

निश्चय ही हम इस सूत्र की रचना कर सकते है, पर इसे रचकर हमें कही उलझना न पडे, यह सम्भव नही है, क्योंकि सूत्र की रचना करते ही एक तीखे प्रश्न का हमें सामना करना पड़ेगा। वह प्रश्न यह है : जब अपनी प्रशसा से प्रसन्न होने की वृत्ति मनुष्य में स्वाभाविक है, तो चौराहे पर मिले लेखक महाशय की बातें सुनकर हमारे मन में वितृष्णा क्यों पैदा हुई ? वे बेचारे अपनी प्रशंसा ही तो कर रहे थे।

प्रश्न सचमुच तीखा है और अपने लिए जगह चाहता है। यह जगह देनी पडेगी और यह हम इस तरह करेंगे कि कहें—अपनी प्रशंसा से प्रसन्न होने की वृत्ति मनुष्य में स्वाभाविक है, पर इस वृत्ति के वश में होकर यहाँ तक बढ जाना कि हम अपनी प्रशंसा आप स्वयं करने लगें, जीवन की, हमारे चरित्र की एक हीनता है। इसे हम यो समझें कि भोजन मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति है, पर बासी होकर और सड़कर यही भोजन विष हो जाता है।

संसार के महान् जीवनशास्त्री भगवान् कृष्ण ने तो इस हीनता को आत्म-हत्या ही कहा है। यह कहना भी एक कहानी है। लीजिए यह कहानी भी सुन लीजिए।

महाबली अर्जुन की यह प्रतिज्ञा थी कि जो मेरे धनुष गाण्डीव की निन्दा करेगा, मैं उसकी हत्या करके ही जल पीऊँगा। घर में सब लोगों को यह मालूम था, पर शोक का आवेग प्रबल होता है, युधिष्ठिर ही उस दिन कह बैठे कि धिक्कार है अर्जुन तेरे गाण्डीव को, जो वह अभिमन्यु की रक्षा न कर सका।

अर्जुन ने कहा . "यह तो जो कुछ है, सो ठीक है पर अब आप जीवित नहीं रह सकते और मैं आपकी हत्या करके ही जल पीऊँगा।"

अर्जुन की बात सुनी, तो सब सन्न, क्योंकि सभी उसकी गम्भीरता से परिचित थे। मामला बिगड़ता देखकर कृष्ण बीच में आ बैठे और बोले : "ठीक है, तुम्हारी प्रतिज्ञा की पूर्ति होनी चाहिए; क्योंकि जिसकी प्रतिज्ञा अपूर्ण रहे, वह कैसा क्षत्रिय ? आइए धर्मराज, यहाँ सामने बैठिए और अर्जुन को अपना काम करने दीजिए!"

धर्मराज सामने आ बैठे। अब मामला और भी संगीन दिखाई दिया, पर तभी चतुर-शिरोमणि कृष्ण ने कहा : "अर्जुन, तुम्हारी प्रतिज्ञा हत्या करने की है सिर काटने की नहीं और शास्त्रों में किसी को उसके सामने कड़वे शब्दों में भर्त्सना करना भी हत्या है। तुम इसी रूप में धर्मराज की हत्या कर अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर सकते हो!"

प्रतिज्ञा पूरी हुई, लोगों का बोझ उतरा, पर तभी भीम ने एक नयी फुलझड़ी छोड़ दी। उसने कहा : हम सब भाइयों की यह प्रतिज्ञा है कि यदि किसी एक की मृत्यु हो गयी, तो बाकी भी आत्महत्या कर लेंगे। अब क्योंकि धर्मराज की मृत्यु हो गयी है, इसलिए हम सबको भी चितारोहण करना चाहिए।" वातावरण फिर ज्यों का त्यों गम्भीर हो गया। कृष्ण ने सोचकर कहा : "परिणाम कुछ भी हो, प्रतिज्ञा की पूर्ति तो होनी ही चाहिए, पर आपकी प्रतिज्ञा जीवन का अन्त करने की नहीं, आत्मघात करने की है। शास्त्रों में अपनी प्रशंसा आप करने को आत्मघात ही माना है। आप लोग भी अपने गुणों का स्वयं बखान करके यह प्रतिज्ञा-पूर्ति करें।" सबने अपनी-अपनी डींग हाँकी और उठ खड़े हुए।

हाँ, यह एक कहानी है, पर क्या जीवन का एक महान् सत्य नही है ? जो सुन्दर है, जो स्वस्थ है, जो गुणी है, उसे अपने सौन्दर्य का, अपने स्वास्थ्य का, अपने गुणों का ज्ञान रहे और वह इस ज्ञान से अपने भीतर एक प्रसन्नता, एक आनन्द अनुभव करे, यह मनुष्य की स्वस्थ दशा है। वह यह चाहे कि मैं अपने सौन्दर्य, अपने स्वास्थ्य और अपने गुणों को दूसरो के मस्तिष्क में ठूँसूँ और विवश करूँ कि वे उनका महत्त्व स्वीकार ही न करें, उसकी घोषणा भी करें, यह मनुष्य की अस्वस्थ दशा है। अपनी प्रशंसा आप करने की वृत्ति इस अवस्था को वैसे ही बाहर प्रकट करती है; जैसे देह के भीतर की गन्दगी को फोड़े।

"तो क्या यह एक मानसिक रोग है ?" प्रश्न ठीक है और उत्तर है : हाँ, यह एक मानसिक रोग है। यह उत्तर निश्चय ही एक नये प्रश्न को जन्म देगा। नया प्रश्न यह होगा कि रोग के निवारण का उपाय करना रोगी का भी कर्तव्य है और समाज का भी, तो इस रोग के निवारण का उपाय क्या है ?

उपाय है और वह बहुत कठिन भी नही है। जिन्हें यह रोग है, वे उसे, उसकी हीनता को अनुभव करें और बार-बार सोचें कि वे इस हीनता का शिकार होकर, समाज की आँखों में न गिरेंगे। बार-बार के इस चिन्तन से उनका रोग निश्चय ही घटेगा, पर उनके साथ ही समाज को भी अपने हिस्से का काम करना पड़ेगा। वह यह कि जिनको जितनी प्रशंसा होनी उचित है, उतनी प्रशंसा करने में वह कृपण न हो और जो प्रशंसा के पात्र नही हैं, किसी भी कारण से उनकी प्रशंसा न करे।

यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात है, क्योंकि जब हम उचित प्रशंसा नहीं पाते और इससे भी बढ़कर उन्हें प्रशंसा पाते देखते है, जो हमारी अपेक्षा गुणहीन हैं, तो हममें प्रशंसा आप करने की हीनता उत्पन्न हो जाती है।



मैं, तुम, वे; सब अधूरे!

"चश्मा लिये बिना आपका सिर-दर्द ठीक हो ही नहीं सकता!" एक अनुभवी मित्र ने कहा, तो मैं मजबूर हो गया कि आँखो के डॉक्टर को आँख दिखाऊँ!

जीवन के आरम्भिक वर्षों में पाधा जी ने जो वर्णमाला पढायी थी, उसकी फिर से तीव्र परीक्षा करके डॉक्टर ने कहा · "योर लाग साइट इज आल राइट!" तुम्हारी दूर से देखने की शक्ति तो ठीक है।

ताजी परीक्षा की जो थकान मुझपर छा-सी रही थी, उसे उतारते हुए मैंने कहा : डॉक्टर, संसार में लाग साइट तो सभी की ठीक है, निर्बल तो शार्ट साइट—पास से देखने की शक्ति – ही है।

डॉक्टर खो गया है, यह मैंने उसकी मुद्रा से जाना। ठीक भी है, वह आये दिन ऐसे रोगी देखता है, जिनकी दूर से देखने की शक्ति निर्बल है और मैं कह रहा हूँ कि डॉक्टर, लाग साइट तो संसार में सभी की ठीक है।

राह टटोलते-से उसने कहा : "जी"

मैंने उसके चारों ओर जैसे एक जाला और पूर दिया · जी, क्या डॉक्टर, ठीक बात है, संसार मे दूर देखने की शक्ति तो सभी की ठीक है, निर्बलता ने तो पास देखने की शक्ति को ही घेर रखा है। और तभी मैंने यह सारा जाला समेट-सा लिया . डॉक्टर, तुम्हारी स्त्री को सारे गुण मुझमें और सारे दुर्गुण तुममें दिखाई देते हैं, पर मेरी स्त्री को सारे दुर्गुण मुझमें दिखाई देते हैं, यह इसके अतिरिक्त और क्या है कि लाग साइट इज आल राइट!

डॉक्टर सुलझ गया : "यस-यस पण्डित जी", और सुलझ गया कि

ज़ोर से हँस पड़ा। तब सुनायी मैंने उसे एक अपनी कहानी। साहित्यिक क्षेत्र मे प्रवेश करते-करते ही मैं बनाया गया एक विशेषांक का सम्पादक। यह सूचना पत्रों में छपी और वे पत्र मेरी जन्मभूमि के पुस्तकालय में भी आये।

समय की बात; मैं पुस्तकालय मे बैठा भीतर एक पुस्तक देख रहा और बाहर बरामदे में कुछ लोग पढ रहे पत्र। उस समाचार पर दो-तीन का ध्यान गया और आश्चर्य कुहरा-सा उनपर बरसा, तो बात चल निकली। यह सुनकर दूर बैठे एक सज्जन ने पूछा : कौन प्रभाकर ? उन मित्रों ने बताया . समझाया, तो वे बोले : "अच्छा, वो रामा मिस्सर का लौण्डा !" मैंने सुना और मान लिया कि मैं उनके पास हूँ, तो सम्पादक, लेखक या और कुछ विशिष्ट भला कैसे हो सकता हूँ ? मैं हूँ सिर्फ़ 'रामा मिस्सर का लौण्डा !' और बस यही !

डॉक्टर साहब हँसे और तब सुनायी उन्होंने अपनी भी कहानी : मैंने डॉक्टरी पास की, तो अपने ही क़स्बे में काम आरम्भ किया। मैं जब देहात से आये किसी बीमार को देख रहा होता, पास-पड़ोस की कोई बुढिया अपने पोते को लिये आती और ज़ोर-ज़ोर से मुझे कहती : "अरे रामधन, ले इसकी आँख में ज़रा-सी दवा डाल दीजो" यह सुनना भी एक साधारण बात थी : "अब तो भाई, बडा आदमी हो गया है तू !" ऊबकर दवाखाना यहाँ उठा लाया और अब मज़े मे हूँ।

डॉक्टर साहब हँसे, तो मैंने भी उनकी हँसी में अपनी हँसी मिला दी . तो अब तो आप मान गये कि संसार में दूर से देखने की शक्ति अधिकतर लोगो की सही है ?

जगजीवन की स्त्री एम. ए. पास है, संगीत में तानसेन और नृत्य में उदयशंकर के पास बैठती है। स्वतन्त्रता-दिवस को क्लब-गोष्ठी में उसने अपनी कला का जो प्रदर्शन किया, उसकी धूम मच गयी !

वासुदेव की स्त्री साधारण पढी-लिखी है, नम्र है, सेवाशील है, रात-दिन अपने पति और परिवार की सेवा में लीन रहती है।

रात में प्रायः जगजीवन कहता है : "गाना-नाचना तो मनुष्य सिनेमा मे जाकर भी देख-सुन सकता है, अपनी पत्नी से वह कुछ और ही आशा करता है। वासुदेव की पत्नी साक्षात् देवी है, दिन-भर काम करती है और क्या मजाल कि बिना पैर दबाये वासुदेव को रात में सोने दे!"

प्राय: ठीक इसी समय वासुदेव कहता है : "खाना-बरतन, झाड़ू-बुहारू, पैर दबाना और कपड़े धोना; यह सब तो दस रुपये का नौकर भी कर लेता है, मनुष्य अपनी स्त्री से कुछ और ही आशा करता है। देवी जी, जगजीवन की स्त्री है, क्लब जाती है, अफसरों से मिलती है और अपने पति के दस काम बनाकर लाती है। अगर वह बैठी पैर ही दबाती रहे, तो क्या फ़ायदा ?"

यहीं एक प्रश्न : यदि जगजीवन और वासुदेव परस्पर अपनी पत्नियाँ बदल लें; तो क्या सन्तुष्ट हो सकते हैं ? ऊपर से कहने को जी चाहता है—हाँ, पर अनुभव इसका समर्थन नहीं करता। कुछ सप्ताहों में ही जगजीवन का मन गूँजती स्वर-लहरी और थिरकते घुँघरुओं के लिए और वासुदेव का मन पिण्डलियों की हड़कल का विष चूसने को उचकती उँगलियों के लिए विह्वल हो उठेगा!

फिर ? यह एक प्रश्न है, जो मन में यहाँ उमड़ता है। प्रश्न छोटा-सा है, पर इसके भीतर जिज्ञासा के पुराण बिखरे हैं। फिर कुछ नहीं, बात यह है कि मनुष्य क्या चाहता है ? यह चाहता है ? वह चाहता है ? ना, सत्य यह है कि वह सब चाहता है, न यह, न वह। चाहता है वह यह भी और वह भी और कमाल यह है कि एक ही स्थान में, एक ही पात्र में, पर जीवन का सत्य चिर अतीत में संस्कृत के कवि ने पा लिया था, जो इस प्रकार है :

"प्रायेण सामग्रविधौ गुणानां
पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः ।।"

—ब्रह्मा जी का स्वभाव सब गुणों को एक ही स्थान मे एकत्र करने के विरुद्ध है—वे कहीं कुछ रखते हैं, तो कहीं कुछ और।

इकराम और हरिसिंह, दो पुराने साथी। इकराम ऐसा कि दुश्मनों के भी काम करता चले और यही नहीं कि दूसरो के काम आना उसका स्वभाव, यही उसका चाव भी। अपना समय और शक्ति लगाकर दूसरों के काम करे और उसमें रस भी ले। हरिसिंह उस दिन मिला, तो नाराज, इकराम के बारे में उसे शिकायत कि एक बात कही थी, उसने नही मानी! बात न मानना इकराम के स्वभाव के ही विरुद्ध, फिर यह क्या बात? जाँच की, तो जाना कि इसी वर्ष में इकराम ने हरिसिंह के दस काम सँवारे हैं। ग्यारहवें काम के समय वह बीमार हो गया और काम न कर पाया। अब हरिसिंह उन दस कामों की कही चर्चा नही करता, पर उस एक काम के बारे सब जगह लगाता है। उसके मन में उन दस कामों का आभार तो कही नही है, इस एक काम का उपालम्भ जरूर भरा है — उस बच्चे की तरह जो दिन-भर की सेवा को सायंकाल का पैसा न मिलने पर भूल जाता है और रूठा फिरता है।

एक सार्वजनिक मित्र हैं श्री तेलूराम। वे तब थे डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के प्रधान। उन्होंने मित्रों का एक मर्मस्पर्शी, पर मनोरंजक अनुभव सुनाया। बोले "हरेक कहता है कि मैं इस पद पर रहते संस्था की प्रतिष्ठा का ध्यान रखूं और हरेक चाहता है कि इस पद पर रहते, उसकी अनुचित माँग को तुरन्त पूरा कराऊँ!" कोई भला आदमी समुद्र के इन दो किनारों को एक साथ भला कैसे मिलाये?

डॉक्टर कहता है, वकालत में बड़ा आनन्द है, वकील कहता है आनन्द तो बस डॉक्टरी में है। एडीटर को आडीटर और आडीटर को एडीटर सुख में दिखाई देता है। बात यह है कि जो हमें प्राप्त है, हम उसे नही देख पाते, जो दूर है, वह हमारी उत्सुकता का केन्द्र है — उसके छिद्र हमें दिखाई नही देते!

जीवन का सच्चा पथ यह नही है कि जो हमें प्राप्त नही, उसके लिए हम रोते रहें। जीवन का सच्चा पथ यह है कि यत्न या योग से जो हमने पा लिया उसे पहचानें, उसे अपने अनुकूल बनायें, उसमें रस लें और

सन्तोष का सुख पायें।

सब कुछ अधूरा हमें मिला, सब कुछ पूरा दूसरों को, यह मृगतृष्णा है, जीवन का दिग्भ्रम है। जीवन का सबसे बड़ा सत्य है : अपूर्णता। मैं, तुम, वे, सब अपूर्ण, अपने में सब अधूरे, इस अपूर्णता का समन्वय, इस अधूरेपन का सदुपयोग ही जीवन की सबसे बड़ी कला है।



अब दूध नहीं मिल सकता !

कौशल जी, मैं और विद्या जी दिल्ली का लम्बा चक्कर काटते, दीवान हॉल की चौथी मंजिल में अपने प्रवास-स्थान पर पहुँचे, तो थककर इतने चूर और निंदियाये कि जी ने कहा : हम यहाँ तक आ कैसे गये ?

हाथ-पैर धो, जरा ताजे हुए, तो भीतर कोई बोल-सा उठा : आज तो हम दूध पीते !

भीतर ही किसी ने पूछा : पीते तो, पर लाये कौन ?

तो फैसला हुआ कि अब दूध नही मिल सकता। ठीक है, नही मिल सकता, क्योंकि दूध पीनेवाले मुँह और दूध देनेवाले हाथ के बीच, जो ये यमयात्रा-सी सीढियाँ हैं, इन्हें उतरने का उत्साह किसी में नही और फिर उतरने का उत्साह भी ज्यों-त्यो उभरे, पर उतरकर फिर चढना जो है। पतन आसान है, उत्थान कठिन, तो फैसला हुआ कि अब दूध नही मिल सकता !

फैसला तो ठीक है, पर फैसले को मन आज मान नही रहा। मैं खुद आश्चर्य में हूँ कि यह आज मुझे हो क्या गया है। मुझमें प्यास न हो ऐसा नही, पर कभी किसी प्राप्ति के लिए वह इतनी प्रबल नही होती कि मुझपर छा जाये। निराकुल मन मेरे जीवन में निर्माता का एक वरदान है। मैं अपने से कह रहा हूँ : आज यह वरदान अपनी अमोघता क्यो खो रहा है ? और फिर फिसला भी तो एक कुल्हड पर ? मैं सोच रहा हूँ, सब समझ भी रहा हूँ, पर प्यास जो एक बार उभर आयी है, तो उभर आयी है !

कौशल जी का थकान सिनेमा से उतरता है। इसमें क्यों-कैसे की

गुंजाइश नहीं। अपनी-अपनी मूड है यह तो!

वे झटके के साथ पलंग से उठे कि हमने भाँपा—बस जम गया इनका तो सेकेण्ड शो! मेरे लिए यह मुँह-माँगी मुराद—तै हुआ कि वे दूध देते जायें और कोई बीच में ले ले। न हम पूरी सीढ़ियाँ उतरें, न वे पूरी चढ़ें।

मैंने अपने से कहा: हो क़िस्मत के धनी। चाहा, सो पाया। लो आ रहा है दूध!

जो चाहा, सो पाया—सचमुच खुशी की बात है, पर यह क्या कि कौशल जी क्या गये—मेरी प्यास ही लेते गये! मैं अपने को बाहर-भीतर तलाश रहा हूँ, पर मुझमें दूध की वह प्यास कहाँ है कि मैं आकुल हूँ! वह कहीं नहीं है, पर अभी तो वह इतनी थी कि मैं उसपर आश्चर्य कर सकूँ!

दूध आ गया, गरम कुल्हड़ मेरे हाथ में है, मलाई आँखों में और उसकी सुहावनी सुगन्ध मस्तिष्क में, पर भीतर उसकी माँग नहीं है, पूर्ण तृप्ति है। यों पिऊँ, तो पी ही लूँ, पर न पिऊँ, तो पाऊँ कि पी चुका। प्यास रस्सा तोड़ जागी और जागकर यों सो गयी, यह बात क्या है?

भीतर ही भीतर बहुत पैड़ियाँ उतर गया, तो हाथ आया कि अब दूध नहीं मिल सकता, अभाव की इस भावना ने प्राप्ति की कामना को उग्र कर दिया था।

आज संसार के जीवन में जो हाहाकार है, छीना-झपटी है, उसके आधार-तत्त्व का यह मेरे लिए साक्षात्कार ही न था, सन्तोष के पक्ष में यह एक नयी दलील भी थी।

जीवन का अनुभव है कि रोज़ दोपहर को भूख लगती है, पर व्रत के दिन प्रातःकाल ही उचाट लग जाती है—मन की भूख ही तन की भूख का रूप धारण कर लेती है। 'अन्नक्षये वर्धति जाठराग्नि.' का, कण्ट्रोल की चीज़ों की अधिक माँग बढ़ जाने का रहस्य और कंजूस माता-पिताओं की सन्तान के भूखेपन का मर्म ठीक-ठीक आज जाना।

और जाना कि अपने प्रति दूसरों का विश्वास पाकर और दूसरों के प्रति अपना सब कुछ सुलभ होने का विश्वास दिलाकर – यह गान्धी की स्वेच्छा से हो या मार्क्स की वैधानिकता से – हम मानव की प्यास को बहुत कुछ नियन्त्रित कर सकते हैं।



□

अजी, क्या करूँ काम ही नहीं निमटता !

हमारे अखिलेश जी दिन-रात के चौबीस घण्टों में से पन्द्रह-सोलह घण्टे तो काम करते ही रहते हैं और अठारह-उन्नीस घण्टों पर भी गाडी महीने में दो-चार बार पहुँचती ही रहती है। जब-जब उनसे इसकी शिकायत करता हूँ, वे कहते हैं : "अजी, क्या करूँ, काम ही नहीं निमटता !"

क्या सचमुच जीवन में इतना काम है कि आदमी को उससे समय पर खाने-पीने, घूमने, मित्रों से मिलने-जुलने और हा-हू करने का समय ही न मिले ?

इस प्रश्न का एक उपप्रश्न भी है कि यदि जीवन में सचमुच इतना काम है, तो क्या यह आदमी के जीवन का कोई स्वस्थ रूप है कि वह उस काम में इस तरह लिपट जाये कि आदमी होकर भी वह आदमी न रहे और आदमीनुमा एक मशीन बन जाये ?

मैं लम्बे अनुभव के आधार पर, मेरे गले में जितनी भी शक्ति है, उस सबको इकट्ठा कर क़रीब-क़रीब चिग्घाड़ के स्वर में इन दोनों प्रश्न-चिह्नों का उत्तर देना चाहता हूँ : 'नहीं !'

हमारे लोकजीवन में एक मीठी गाली है : 'काम बढ़ावा।' माँ अपनी फूहड़ बेटियों को कहती है : "क्या काम बढावा थी मेरे पेट पड़ीं !"

बस यही फूहड़पन कुछ लोगों के जीवन पर छाया हुआ है स्वयं उनके कारण या फिर उनके साथियो के कारण वे सब भी काम बढावा हो गये हैं – तभी उनका काम नहीं निमट पाता !

दूसरा महायुद्ध घनघोर रूप में हो रहा था और अफ्रीका में दोनो पक्षों के पूरे साधन दावँ पर लगे हुए थे—जान-जान की बाजी थी। इंगलैण्ड के प्रधान मन्त्री चर्चिल ने सेनापति माण्टगुमरी को सन्देश भेजा कि वे कल रात में बारह बजे एक आवश्यक बैठक में शरीक हो।

माण्टगुमरी ने उत्तर दिया : "बारह बजे मैं बैठक मे शरीक नही हो सकता; क्योकि वह तो मेरे सोने का समय है!"

सेनापति माण्टगुमरी के युद्ध-सस्मरणो मे उनकी दिनचर्या दी गयी है। वे युद्धस्थल मे ही एक बडे ट्रक मे सोया करते थे। ठीक नौ बजे वे अपने ट्रक में पहुँचते और सोने के कपडे पहन, चाय का एक कप पी, लेट जाते, कुछ देर उपन्यास पढते और सो जाते। ठीक पाँच बजे उठते, तैयार होते और सात बजे अपने दफ्तर मे आ जमते। उनके ट्रक से कुछ ही दूर पर गोलाबारी होती रहती, पर वे सोते, तो बस सोते ही रहते।

क्या सेनापति माण्टगुमरी से मेरे पुत्र अखिलेश की जिम्मेदारियाँ कुछ ज्यादा हैं? यह प्रश्न स्वयं अपने में एक अट्टहास का पिता है!

साबरमती आश्रम में बरसों बीते हमारे आकाश ने एक दृश्य देखा था। भोजन की घण्टी बजी और सब आश्रमवासी रसोईघर पहुँच गये। गान्धी जी भी अपनी थाली लिये घण्टी बजते ही चले, पर तभी आ गये कोई सज्जन और गान्धी जी को उनसे कोई डेढ मिनट बातें करनी पड़ीं। आश्रम का नियम कि घण्टी के दो मिनट बाद रसोईघर का द्वार बन्द। बस यही वह दृश्य कि झपटे-झपटे आ रहे गान्धी जी द्वार के बाहर की सीढियों पर और द्वार के भीतर रसोई का प्रबन्धक। प्रबन्धक पाँच-सात सेकेण्ड रुके, तो गान्धी जी द्वार के भीतर हो, पर वह रुके, तो नियम टूटे और नियम टूटे, तो दण्ड पाये! किवाड उढक गये और उढकन की ध्वनि को दो अट्टहासो की गूँज ने अपने मे समा लिया। एक अट्टहास प्रबन्धक का और दूसरा अट्टहास गान्धी जी का।

वहाँ क्या ग़दर मच जाता जो प्रबन्धक कुछ पल ठहर जाता और यों गान्धी जी को दूसरी पंक्ति में भोजन करने के दण्ड से बचा लेता ?

न ग़दर मचता, न प्रलय होती, पर कड़ियों के जोड़ की यही ढील तो है, जो भयंकर युद्ध की घड़ियों में भी माण्टगुमरी को सोने का समय देती और अखिलेश जी को रात तक काम में जुटाये रखती है।

काम को काम की तरह करो, तो काम कभी क़ाबू के बाहर न हो और काम को काम की तरह न करो, तो काम कामदार को अपने क़ाबू में कर चले। इसी का नाम है—काम बढ़ावा!

मेरे पड़ोस में ही एक कम्पनी का कार्यालय था। तीन सज्जन उसमें प्रमुख कार्यकर्ता, पर कम्पनी के कार्यालय की ताली शाम को रहे सबसे बड़े मैनेजर के पास।

प्रात नौ बजे उनके छोटे कर्मचारी आये तो ताला बन्द। देर ज़्यादा हो, तो दूसरे संचालक भी आ पहुँचे और बाहर चहलक़दमी किया करें। ऐसा भी हो कि कोई कर्मचारी बड़े बाबू जी के घर ताली लेने जाये, तो खबर मिले कि वे कहीं गये हैं।

एक दिन मैंने उनसे कहा : "पांच आने में इस मसले का हल हो सकता है।"

आश्चर्य से बोले : "भला किस तरह ?"

मैंने कहा : "पांच आने में इस ताले की दो तालियाँ और बनवा लीजिए और एक छोटे मैनेजर को एव एक लेबर-इन्चार्ज को दे दीजिए। बस, जो पहले आयेगा, ताला खोल लेगा। वे बहुत लज्जित हुए कि इस ज़रा-सी बात के लिए उनका काम बढ़ा हुआ था।

एक धनी मित्र हैं। उनका नौकर परेशान था कि दौड़ते-दौड़ते पाँव टूट जाते हैं और शाम को सुनना पड़ता है कि तुम काम ही क्या करते हो ?

बात यह है कि वे नौकर को एक काम बताते हैं कि बाजार से अमुक चीज ले आ। नौकर चीज लिये बाजार से लौटता है, तो हुक्म मिलता है : ले, यह पत्र अमुक सज्जन को दे आ। नौकर अभी-अभी जहाँ से वह चीज लेकर आया है, उसके पास ही ये मित्र रहते हैं। नौकर सोचता है और ठीक सोचता है कि यदि सेठ जी यह पत्र भी मुझे पहले ही दे देते, तो मैं सामान लाने के साथ ही उसे भी देता आता।

स्पष्ट है कि सेठ जी काम को काम की तरह करना नहीं जानते।

'काम को समेटो, बखेरो मत!' यह भी एक लोकोक्ति है।

काम का समेटना क्या? काम का बखेरना क्या?

एक बड़े परिवार में मेरा आना-जाना है। परिवार में धन भी है, जन भी हैं। रोज हल्ला मचता कि नहाने पर धोती-तौलिया ठीक नहीं मिलता : "अरे मिट्ठन, मेरी धोती ला। अरे बुद्धू, मेरी तौलिया कहाँ फूँक दिया!" यह मैं अकसर सुना करता।

एक दिन मैंने मिट्ठन और बुद्धू को समझाया कि तीसरे पहर जब बाहर चौक से सूखी धोतियाँ और तौलिया उतारते हो, उसी समय उन्हें स्नान-गृह में रख दिया करो, जिससे जो जब नहाने जायेगा, उसे अपनी धोती-तौलिया वहीं तैयार मिलेगा। साथ ही बाजार से मँगाकर मैंने पाँच-छह खूँटियाँ स्नान-गृह में लगवा दीं—नौकरों की परेशानी दूर हो गयी, तो घरवालों का सुभीता बढ़ गया।

यह है काम का समेटना।

एक साहित्यिक मित्र के घर गया, तो देखा कि उनके लिखने की मेज पर बिजली का टेबिल लैम्प भी रखा है, उसके पास ही मिट्टी के तेल की लालटेन भी और उस लालटेन के पांखे में एक दियासलाई की

डिबिया भी।

पूछा : "हजरत, यह लालटेन क्यों विराजमान है यहां ?"

बोले : "लिखते-लिखते कभी अचानक बिजली बुझ जाये, तो इसे जला लेता हूं और यों इधर-उधर दौड़ने और ठोकरें खाने से बच जाता हूं।"

यह है काम का समेटना और यह-वह क्या था, काम को समेटना सीखना हो तो डाकिये से सीखिए, जो अपनी हजारों चिट्ठियों को इस सिलसिले से लगाता है कि क़दम के साथ चिट्ठियां अपने-अपने ठिकाने पहुंचती चली जाती हैं।



लो भिखारी, दुर मजदूर !

मैं हरद्वार जा रहा था और वे भी। वे भी, माने एक मारवाड़ी धनी परिवार। इस परिवार में एक सेठ जी कोई चालीस वर्ष के, सेठानी जी, एक जवान लड़का और एक चार-पाँच साल की लड़की।

मेरी तबीयत जरा खराब, मैं अपनी सीट पर लेटा हुआ। शानदार सेकेण्ड क्लास का डिब्बा, जिसमें दो सीट नीचे और दो ऊपर। ऊपर-वाली सामान से लद-फद। उनके लड़के ने चाहा कि मेरी सीट पर वह खिड़की के पास बैठे। मैंने चाहा कि हाँ, वह जरूर बैठे और पैर सकोड़े, पर सेठ जी ने उसे आँखों ही आँखों लिया कि कहा . "देखते नहीं, पण्डित जी की तबीयत खराब है, इधर बैठो।"

मैं कर्मों में रावण का रूप या कंस का प्रतिनिधि भले ही हूँ, जन्म से ब्राह्मण हूँ और ब्राह्मण हूँ कि पूज्य हूँ, यह सेठ जी ने।बिना परिचय के ही जान लिया, तो मुझपर उनकी धार्मिकता की एक छाप पड़ी। फलों की पड़ी टोकरी उनके साथ थी, उसे दिखाकर बोले : आप कोई कष्ट न मानें सन्तरे लें, आपकी तबीयत सँभलेगी। मैंने माना कि आदमी सज्जन है।

गाड़ी स्टेशन पर रुकी, तो सेठ जी की खिड़की के नीचे चार-पाँच भिखमंगे, दीन, हीन, मलीन ! सेठ जी ने सेठानी जी को इशारा दिया कि भूखों की झोली में पूरियाँ पड़ी और सेठ जी को आशीष मिली। फिर एक स्टेशन, फिर भिखारी, फिर भोजन। किसी अनाथालय के दो लड़के गाड़ी मे आ गये—गाते, भीख माँगते। सेठ जी और सेठानी जी ने उनसे खूब भजन सुने। सेठानी जी ने दोनों को खाना खिलाया, सेठ जी ने एक रुपया दिया और छोटी मुन्नी ने अपना सन्तरा।

मैंने सोचा . सारा परिवार ही उदार है। हर आदमी अपनी आदत से मजबूर है। मैं यह सोचकर यही न रुका और सोचता गया : मनुष्य और मनुष्य के बीच भेद-भाव संसार का सबसे बड़ा पाप और मनुष्य-मनुष्य के बीच एकता संसार का सबसे बड़ा पुण्य है। ममता इस पाप-पुण्य के बीच का सेतुबन्ध है।

सेठ जी की स्वभाववृत्ति के लिए मेरे मन में स्वाभाविक था कि आदर का भाव उपजा और पनप चला।

यह आ गया हरद्वार।

कुलियो ने सेठ जी का सामान नीचे उतारा · "अच्छा सरकार, तो हुक्म हो जाये!" वे जानना चाहते थे कि उन्हें क्या मिलेगा?

सेठ जी ने बण्डलों की ओर ताका और इनका बोझ आंका, तो बोले : "बोझा बेसी नहीं है, उठाओ बारह आने मिलेंगे!"

"बारह आने?" कुली जैसे आकाश से गिरे।

"हां भई, बारह आने। तीन-तीन आने तीन कुलियों की मजदूरी और तीन आने बकसिस, हमने ठीक बोल दिया है, उठाओ!" सेठ जी ने उन्हें सँभाला।

कुली चुपचाप देखते रहे, न बोले, न बढे। एक अजीब पैंतरा था। सेठ जी ने उन्हें सहलाया : "अच्छा नौ आने मजदूरी, सात आने बकसिस; उठाओ!"

"माई-बाप! हम गवरमिंट के नौकर थोड़े ही हैं, हम तो आप ही के नौकर हैं। आपसे न लें, तो कौन दे।" एक कुली ने छारा, तो दूसरे ने पूरा : "हुजूर आप तो राजा आदमी हैं। हम रात-दिन आदमी को देखते हैं। सरकार, हम आदमी को पहचानते हैं।" यहीं तीसरे ने फेंकी तुरुप : "सरकार, तीन रुपये का काम है।"

प्रशंसा के मायाजाल में उलझते-उलझते सेठ जी ने उन्हें एक झटका दिया : "ना, ना, तीन रुपैया को के काम है। हमारा टाइम वेस्ट (समय

खराब) मत करो। उठाना हो, तो उठाओ, नही तो हमारा नौकर रख देगा। नौ आना मजदूरी नौ आना बकसिस; एक रुपया दो आना मिलेगा।"

सेठ जी किनारे पर आ गये थे। अब अजलियाँ भरने का समय न था, कोई चुटकी ही ली जा सकती थी। कुलियों ने इसे भाँपा और वे सामान की ओर बढ़े। बढते-बढ़ते उन्होंने एक झोंक दी : "वाह सरकार, आप नौकर से क्यो सामान उठवावें, हम किस लिए हैं। आप एक पैसा न दें, तो भी हम सामान नही छोड़ सकते!" और सामान उठाते-उठाते आवाज आयी : "इतनी बडी सरकार ने खुद कह दिया है, छह आने हम छोटे सेठ जी से इनाम लेंगे।"

सेठ जी ने एक हलकी-सी आड़ दी : "ना, ना, यह सब कुछ नही। तुम लोग मुसाफ़िरो को बहुत तंग करते हो।"

सामान ताँगों में रखा जा चुका, तो दुअन्नी के साथ रुपया कुलियो की ओर बढाया गया। अब एक अजीब झमेला कि सभी कुछ न कुछ बोल रहे हैं। अपना माथा छू-छूकर कुली लोग माँग रहे हैं और सेठ जी हाथ हिलाकर मना कर रहे हैं। सेठ जी आखिर झुके और डेढ रुपया कुलियों के पल्ले पडा।

तभी आ जुटे दस-बीस भिखारी। सेठ जी ने सबको एक-एक अधन्नी दी—बिना तकाजे, और ताँगा चला।

मैंने सोचा : बहुत तग करते हैं ये कुली। हर आदमी अपनी आदत से मजबूर है। मैं सोचकर यही न रुका और सोचता गया—जिस मनुष्य ने अनाथालय के लडको को बिना माँगे एक रुपया दिया और जिसने भिखारियों को माँगते ही पाँच-सात आने दे दिये, वह कुलियों से चार-छह आने बचाने के लिए इतनी देर क्यो उलझता रहा? इस आदमी के पास पैसा है, यह उसे खर्चना चाहता है, खर्चना जानता है, यह स्पष्ट है; फिर मनोवृत्ति की यह कौन-सी दिशा है जिनके साथ उसका कोई सम्पर्क नहीं, उन्हें देने को वह तैयार है, पर जो उसकी सेवा करते हैं, उसे सुख पहुँचाते

हैं, उन्हें देने को वह तैयार नहीं है।

एक अद्भुत मनोदशा है इस सेठ की, पर क्या यह इस सेठ की ही मनोदशा है? सोचता हूँ कि कुछ गहरे उतर पाऊँ, तो याद आ गयी मुझे अपनी एक भाभी जी। जो मिलता है उनकी प्रशंसा करता है। जो उनका एक बार अतिथि हो गया, वह दूसरों का आतिथ्य फिर पसन्द नहीं करता। नम्र, हँसमुख, उदार और सज्जन।

उनका एक बूढ़ा धोबी है। धोबी उनसे काम भी पाता है, स्नेह भी, सद्व्यवहार भी। एक दिन उसे कपड़े दिये गये कि वह आज ही धो लाये। धोबी ने दूसरा काम छोड़कर यह काम किया और जब हिसाब लिखने का समय आया, तो मजदूरी दुगुनी लिखायी, पर भाभी जी इस पर तैयार न हुईं और सारी बहस का अन्त उन्होंने यह कहकर कर दिया: "यों तुझे जरूरत हो तो दो रुपये माँग ले, मैं मना नहीं करूँगी, पर यह क्या कि एक दिन जल्दी धो लाया, तो चार आने के आठ आने बताने लगा।"

बिलकुल वही सेठ की मनोवृत्ति—यदि माँगने की मुद्रा में तू सामने आये, तो तुझे दो रुपये देना भी सरल, पर यदि मजदूरी की बात है, तो ये आठ आने भी मेरे लिए कुबेर का भण्डार।

देने-देने में यह अन्तर क्यों? भिखारी को, ग़रीब को देते समय भी एक आना छह नये पैसे का है मजदूर को देते समय भी वह पाँच पैसों का नहीं होता, फिर एक को देने में वह रपटता क्यों है और दूसरे को देने में वह चिपकता क्यों है?

बहुत सोचा, तो एक बात पायी कि भिखारी माँगता है, तो जैसे बिना कहे भी कहता है: मेरा कोई अधिकार नहीं है, यह आपकी कृपा है। इस अधिकार-हीनता और कृपापूर्णता में दाता की महत्ता है—उसे देते समय बिना अनुभव किये भी, दाता को यह गौरव अनुभव होता है कि मैं इससे बड़ा हूँ, सामर्थ्यवान् हूँ—ओह मैं।

इसके विरुद्ध मजदूर जब माँगता है, तो जैसे बिना कहे भी कहता

है : मैं भीख तो नही माँगता साहब, मैंने तो पहले काम किया है, तब माँग रहा हूँ।' यह माँग मेरा अधिकार है। साफ है इस माँग में लेनेवाले का अधिकार है, देनेवाले की बाध्यता है।

तो संक्षेप में : भिखारी, गरीब या असमर्थ माँगते समय अपने 'अहं' को दीनता में डुबो देता है और दाता देते समय अपने अहं की प्यास बुझती-सी अनुभव करता है, तो मजदूर माँगते समय अपना अधिकार-सा अनुभव करता है और दाता देखता है कि उससे कुछ वसूल किया जा रहा है।

पहले मे दोनो पक्ष अस्वस्थ हैं और दूसरे में केवल पहला, पर हम भिखारी के कार्य को मान रहे हैं स्वाभाविक; यानी उसका अधिकार और मजदूर के कार्य को मान रहे हैं अस्वाभाविक; यानी उसकी धृष्टता। इसके साथ ही दाता के दर्प को हम मान रहे हैं पुण्य और मजदूर के अधिकार-हरण को सेठ की चतुरता !

हमारे लिए जीवन के प्रश्नों का समाधान है धर्म और धर्म की दृष्टि में वह कार्य पाप है, जिसमें दीनता है, दर्प है, अपहरण है।

यह सब समाज-व्यवस्था की अस्वस्थता के चिह्न हैं। स्वस्थ समाज-व्यवस्था मे, न भिखारी की दीनता के लिए स्थान है, न दाता के दर्प के लिए और न मजदूर की धृष्टता के लिए, न धनपति की चतुरता के लिए। उसकी दृष्टि में तो विषमता और अव्यवस्था ही रोग है और समता और व्यवस्था ही स्वास्थ्य !

जब हम बाजार में हँसे!

बाजार भी एक अजीब जगह है। जगह क्या, इसे पूरा नाटक समझिए। यों देखने में तो इस नाटक के पात्रों की संख्या अनगिन है, पर असल में यहाँ दो ही पात्र हैं . एक दूकानदार, दूसरा खरीदार।

दूकानदार के पास है सामान और खरीदार के पास है पैसा। भक्त और भगवान् की जोडी है, पर ऊँहूँ : यह उपमा भी ठीक नही, क्योकि यहाँ दोनों ही भक्त हैं और दोनों ही भगवान् और तभी तो मैं कहता हूँ : बाजार भी एक अजीब जगह है।

चहल-पहल बाजार की जान है। यह चहल-पहल है खरीदारो की, दूकानदारों की। इस चहल-पहल में कभी-कभाक गरमी भी आ जाती है और मामला गाली-गलौज पर ही नहीं रुकता, मार-पीट तक पहुँच जाता है, पर आम तौर पर यहाँ प्रसन्नता की छाया रहती है।

"क्यो भला ?"

ठीक जगह पर ठीक प्रश्न है आपका, पर उत्तर इसका साफ है। बात यह है कि बाजार की मनोवृत्ति है मिलन की, ले-दे की, समन्वय की। यह न लड़ने से सधता है, न झगड़ने से। लो, यों समझ लो कि दूकानदार को जरूरत है खरीदार की और खरीदार को जरूरत है दूकानदार की — एक का काम दूसरे के बिना नही चल सकता; इसलिए दोनों को एक-दूसरे से मिलना है, जी हाँ मिलना ही है।

बातचीत में जरा साहित्यिकता की पुट देने में आपको भी मजा आता हो, तो मैं कहना चाहता हूँ कि मिलन का फूल प्रसन्नता की बेल पर ही फूलता है, इसलिए बाजार का वातावरण आम तौर पर प्रसन्नता

का ही रहता है। हास्य है प्रसन्नता का लाडला पूत, इसलिए यह बाजार के वातावरण में खूब फलता-फूलता है और यों बाजार की खरीदारी में हास्य की किलकारियाँ यदि प्रायः सुनाई देती रहती हैं, तो यहाँ सवाल का सन्तरी क्यों अपनी जरूरत माने ?

और फिर आप तो इस तरह पूछ रहे हैं, जैसे कभी बाजार की खरीदारी में आपके साथ किसी ने या किसी के साथ आपने मजाक ही न किया हो ? क्यों, उस दिन तो मैं आपके साथ ही था जब विश्वम्भर बजाज ने आपपर एक तगड़ी-सी मुहर जड़ी।

"कब ? कैसी मुहर ?"

जी, भूल गये आप ? उस दिन मैं पद्मा के लिए शाल खरीद रहा था और आप भी साथ थे। मैं शाल देखता रहा और आप मूँगफलियाँ खाते रहे। जब हम लोग शाल लेकर चले, तो विश्वम्भर जी ने आपको आवाज दी। आप लौटे, तो उसने रूमाल की एक पोटली आपको दी कि यह आप भूल गये थे बाबू जी !

आपने पोटली ले ली, शायद यह समझकर कि मेरी कोई चीज है, पर तभी उसे खोली, तो उसमें मूँगफलियों के छिलके थे। ओह, हम सब कैसे लोट-पोट हुए हँसते-हँसते और आपका उस दिनवाला मुँह तो मुझे आज भी याद है !

उस समय तो आपकी तबीयत बहुत ही झक हुई, जब विश्वम्भर जी ने बहुत भोली-सी सूरत बनाकर आपसे ही पूछा : "क्यों बाबू जी, यह आपकी नहीं है क्या ? माफ कीजिएगा हुजूर; मैंने यही समझा था !"

ओफ्-ओह। उस समय हँसी का जो दूसरा दौर आया, तो कहकहे आसमान तक पहुँच गये और मुझे स्वर्गीय प्रेमचन्द का गूँजता अट्टहास याद हो आया !

झिगा चौधरी को तो आप जानते ही हैं, हमारे पड़ोस में ही फल-सब्जियाँ बेचता है। एक दिन उसकी दूकान से, हाँ दूकान ही है और

क्या; मैं सब्जी लेकर चला, तो केले के छिलके पर रपट पड़ा। दोनों पैर चौड़े हो गये और मैं पलक मारते हनुमान्-आसन करता नजर आया। हथेली का बल सड़क पर दे, मैं सीधा हुआ, तो झिंगा चौधरी मुझसे पूछता है, "कहिए बाबू जी, क्या उठा लिया ?"

अब बताइए, उसे मैं क्या जवाब देता, पर आते-जाते लोग खूब हँसे। ठीक है, लोगों को तो बिना पैसे का तमाशा चाहिए, पर उस दुष्ट की बात देखिए। दूसरे दिन मैं सब्जी लेने नहीं गया और श्रीमती जी को भेज दिया, तो झिंगा उनसे कहता है, "क्यों बहू जी, आज बाबू जी नहीं आये ? कल हमारी दूकान पर से उन्हें एक गिन्नी पा गयी थी, पर हम उनसे हिस्सा थोड़े ही बँटा रहे थे – पायी चीज परायी चीज !"

श्रीमती जी मेरी जेब की पाई-पाई पर निगाह रखती हैं। चौंककर झिंगा से बोली, "बाबू जी को कल गिन्नी पायी थी ?"

मुँह बनाकर झिंगा ने कहा, "हाँ, बहू जी, जयपुरी गिन्नी, यहीं हमारी दूकान के सामने से पायी और बाबू जी उठाकर ऐसे नौ-दो-ग्यारह हुए कि हमारी तरफ़ देखा भी नहीं।"

श्रीमती जी सब्जी लेकर लौटीं, तो महात्मा परशुराम की तरह क्रुद्ध और बोलीं : क्यों जी, अब तुम बहुत उस्ताद हो गये हो। मुझे बताया भी नहीं कि तुम्हें गिन्नी पायी है, जैसे घर में जो दौलत बरसती है, उसे मैं अकेली ही पी जाती हूँ ?"

मैं परेशान कि कौन-सी गिन्नी, पर श्रीमती जी का टेम्परेचर डिग्री पर टिकी हाई ! बहुत देर में बात खुली, तो हम लोग खूब हँसे, पर दूसरे दिन झिंगा को मैंने डाँटा, तो बोला "अजी बाबू जी, हँसी-मजाक के बिना जिन्दगी काँटों का ढेर है। बहू जी को गिन्नी न बताता, तो आप कैसे हँसते ?"

यामीन भाई को सारा शहर जानता है। बड़े सीधे आदमी हैं बेचारे, पर उस दिन उनकी दूकान पर सुना कि एक ऐसा खरीदार आया, जो मोलभाव में उन्हें भी मात कर गया। वह शहरों से दूर किसी पहाड़ी गाँव

का रहनेवाला था।

यासीन भाई की दूकान पर कांच का एक गिलास रखा था उलटा। उसे देखकर बोला। "यह क्या है भाई ?" उन्होने कहा : "यह गिलास है" तो खरीदार उसे छूकर आश्चर्य से बोला : "यह कैसा गिलास है, इसमें तो मुँह ही नही !"

यासीन भाई ने सरल-स्वभाव कहा : "उलटकर देख भैया !" खरीदार ने उसे उलटकर देखा, तो और भी गहरे आश्चर्य मे डूबकर बोला : "ओह हो:, इसमें तो तली भी नही है !"

पता नही यासीन भाई की दूकान पर ऐसा खरीदार आया या नही, पर शिवचन्द्र कुमार ने उस दिन रेल में यह बात सुनायी, तो हँसी के फव्वारे छूट पडे। मैंने कहा . "ससार के साहित्य में सरलता का इससे बढिया उदाहरण नही मिल सकता।"

एक छोटा-सा रिमार्क, एक मामूली-सा इशारा, बाजार के वातावरण को हास्य से भर देता है। गिरीशदत्त पाण्डेय मेरे मित्र है। चीजें खरीदने का रोग है उन्हें। दूकानदार का दिमाग चाट जाते है बेचारे का, पर उस दिन उस अँगरेज महिला ने उन्हें ऐसा सबक दिया कि याद करेंगे पाण्डेय जी ! अपनी श्रीमती जी के लिए उन्होंने कानों के मोती खरीदे। लेते-लेते बोले : "मैडम, ये ठीक भी हैं ?" मैडम ने निहायत नजाकत के साथ जरा मुसकराकर कहा . "पहनकर जो देख लीजिए !" ओह हो, इतने जोर से चारो ओर हँसी फूटी कि पाण्डेय जी खुद कानो के मोती बन गये।

इस महिला के पास एक बूढा अँगरेज था। उससे पाण्डेय जी ने जुराबें ली। उनपर कीमत लिखी थी आठ आने। पाण्डेय जी को यह कम लगी, तो बोले : "आठ आने ही ?" बूढे ने पेन्सिल पाण्डेय जी की ओर बढाकर कहा : "धन्यवाद, लीजिए बारह आने कर दीजिए !" मामूली बात थी, पर बूढे की लचक और कहने के ढग ने समा बाँध दिया

और हम सब हँसी में डूब-से गये।

बात यह है कि बारातों के बाद बाजार ही वह स्थान है, जहाँ आदमी खुले दिल होता है और उसे राह-चलतों से मसखरी सूझती है। कभी-कभी यह मसखरी लाभदायक भी हो जाती है।

मगल हलवाई बुरा आदमी नही है, पर बूढा हो गया है। उस दिन प्रोफेसर साहब ने चार आने देकर रेवडियाँ ली, पर मगल लिये चार आने भूल गया। बेचारे भले आदमी, दोबारा चार आने देकर चुपके से चले आये, पर उनके दो शैतान विद्यार्थियो को यह पता लगा, तो वे तन गये।

दूसरे दिन एक लडका उसकी बेंच पर जा बैठा और बोला : "लो लाला, आज हमे वजीफा मिला है, तुम हमें छकाकर मिठाई खिलाओ।" लाला तो ऐसों की खोज मे ही रहता है, दोना भरकर हाजिर किया। तभी दूसरा लडका आया और पहले से अनजान-सा बेंच के दूसरे किनारे बैठ गया। दोनों मिठाई खाने लगे। जो बाद मे आया था, उसने पहले हाथ झाडे और उठ चला। लाला ने कहा · "अरे, पैसे तो दे!" लडका बोला : "वाह लाला, दोबारा पैसे माँगते हो, अभी तो दिये है एक रुपया पाँच आने। आज अफीम ज्यादा तो नहीं खा गये?"

लाला जी ने न्याय के लिए उस लडके की तरफ़ देखा, जो इससे पहले आया था और अब रूमाल से मुँह पोंछ रहा था : "क्यो बाबू जी, आप इनसे पहले से बैठे है, आप ही बताइए, इसने मुझे पैसे दिये है?"

लडके ने चलने के लिए पैर बढाते हुए-से कहा · "लाला, तुम अब भुलक्कड हो गये हो, पर खैर, इसके एक रुपया पाँच आने तो भूल गये, मेरा डेढ रुपया न भूल जाना।"

"और तुमने ही कहाँ दिये है अभी पैसे?" लाला ने जोर से कहा, तो वह बोला · "वाह-वाह, यह एक और हुई। मालूम होता है लाला, सब मुफ्त खानेवाले तुम्हारी ही दूकान पर आते है। दूकान है या सेठ मँगनी राम का सदाव्रत!"

दस-पाँच आदमी इकट्ठे हो गये। सामनेवाले दूकानदार ने सारी बात सुनकर कहा : "मंगल, अब तेरी अक्ल सठिया गयी है। कल प्रोफेसर साहब से झगड़ रहा था, आज इन लड़कों से उलझ बैठा!"

मंगल लाला ने कसमों की झड़ी बाँध दी, तो एक पड़ोसी ने कहा : "तो भाई, यह तो हो नहीं सकता कि दुनिया के सब आदमी बेईमान और बस एक तू ही राजा हरिश्चन्द्र!"

बात खतम हो गयी, पर पास की गली में पहुँचते ही दोनों लड़कों की जो हँसी छूटी, तो पेट फूल गये। मंगल तीन रुपयों का मारा गया और मजा यह कि अब जो खरीदार आता है, नखरे से कहता है : "ले भाई ये पैसे, देख भूल मत जाना!" मंगल सुनता है और कुढ़ता है, पर कुछ कर नहीं पाता! प्रोफेसर साहब के चार आनों का बेचारे को ऐसा सूद देना पड़ा कि काबुली का सूद भी मात हो गया – लाला दे रहा है, दे रहा है, दिये जा रहा है और जाने कब तक दिये जायेगा।

हास्य जिन्दगी की एक निशानी है। निशानी क्या भाई साहब, यह जीवन का एक चोचला है और चोचला कहने में एक हलकापन-सा जरूर कानों को लगता है, पर सचाई यह है कि चोचलों के बिना जिन्दगी गूँगी है, जैसे बिना लहरों की धार। तभी तो हमारे साहित्याचार्यों ने हास्य को भी एक रस माना है। और बड़े-बड़े कलाकारों ने अपनी जीवन-भर की साधनाओं के द्वारा इसे एक महान् कला का रूप दे दिया है।

पर हाँ, उस पहाड़ी-से शहर का मोटा दूकानदार, न साहित्यिक, न साधक, न विद्वान्, न पण्डित, चाय का एक मामूली-सा दूकानदार; अनपढ़ के साथ अनगढ़ भी, पर उसने उस दिन मेरे प्रश्न का उत्तर देते हुए, हास्य को ऐसा कलात्मक रूप दिया कि मैं देखता रह गया। और देखता क्या रह गया यों ही, उसने अपनी बात कही ही इस ढंग पर कि हास्य के बड़े-बड़े बेढब और बेधड़क लेखक देखते रह जायें।

अच्छा, प्रश्न क्या था, यह जानना चाहते हैं आप? मैं उस बेवकूफ

से प्रश्न ही क्या करता – मैंने उससे यह शिकायत की कि तुम्हारी दूकान पर क़लई के गिलासों मे चाय दी जाती है और बहुत देर तक गरम रहते हैं, इससे पीने में देर होती है। तुम प्याले क्यो नहीं रखते ?

शिकायत सुनते ही चीनी के साथ ही चम्मच भी गिलास मे झटके के साथ डाल, वह अपनी मैली गद्दी पर रखे उस उधड़े-से तकिये के सहारे लग, अपना गाल हथेली पर दिये बैठ गया। बैठ गया और बस बैठा है; जैसे मैंने उसे कोई बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण समाचार सुना दिया हो।

अब मैं हलकी-सी चिन्ता से घिरा-घिरा उसे देख रहा हूँ और वह है कि गुम। तब मैंने पूछा : "क्यो भाई क्या हुआ ?" बहुत संजीदगी टोन में बोला : "अजी बाबू जी, क्या बताऊँ आपको अपना ग़म, आप तो पढ़े-लिखे मालूम होते हैं; ज़रा यह तो बताओ कि जैसे आदमी हिन्दुस्तान मे हैं, वैसे दुनिया में कहीं और भी हैं ?"

क्यों भाई, अपने मुल्क के आदमियों से तुम क्यों परेशान हो ? मैंने उससे पूछा, तो पालथी को सकड़ कर अपनी कोहनी को घुटने पर टेकते हुए बोला . "मैं क्यों परेशान हूँ, यह पूछ रहे हैं आप ? बाबू जी, मुझे परेशानी का कोई दौरान नही उठता और न मेरा बाप वसीयत में मुझे यह धरोहर दे गया है—परेशान तो मुझे आप करते हैं।"

मैं तुम्हें परेशान करता हूँ ? आश्चर्य में डूबकर मैंने पूछा, तो खिसियाते दाँत दिखाकर बोला : "जी हाँ, आप मुझे परेशान करते हैं। मारी नही बन्दूक़ आपने मेरे कलेजे में अभी ?"

"बन्दूक़ ! मैंने तुम्हारे बन्दूक़ मारी ?" आस-पास बैठे तीन-चार आदमियों की तरफ़ मैंने देखा। वे भी मेरी ही तरह आश्चर्य से उसकी ओर देख रहे थे। दूकानदार अभी उसी मुद्रा मे था। बोला · "ये बन्दूक़ से कम हैं आपके सवाल—क़लई के गिलास क्यों रखे हैं ? चीनी के प्याले क्यों नही ? बाबू जी मेरे कलेजे पर इस सवाल की चोट बन्दूक़ से भी ज़्यादा पड़ती है।"

ज़रा ठहरकर बोला : "अँगरेज़ जब चाय पीता है, तो बस दुनिया

को भूल जाता है। धीरे-धीरे बातें करते, हँसते, खिलखिलाते, इस तरह प्याले से चुसकियाँ लेता है कि थकान उडी चली जाती है और ताजगी गात के रोयें-रोयें में समा जाती है, पर हिन्दुस्तानी आदमी दूकान में घुसने से पहले ही 'चाय बनाओ, बनाओ चाय' की हडबडी मचाता आता है, जैसे गिरफ्तारी का वारण्ट लिये दरोगा पीछे आ रहा हो। चाय का प्याला जहाँ उसकी मेज पर आया कि उसने उठाया। अब प्याला हाथ मे, चाय मुँह में, पर आँखें बाहर सडक पर और जहाँ कोई आता-जाता दिखाई दिया कि यह चिल्लाया : ठहरना। मैं भी आ रहा हूँ, बस, इसके बाद तो यह हाथ से प्याले को देगा एक झटका कि चाय हो गले के पार; जैसे कुनैन मिक्सचर और उड़ेगा बाहर को।

जाते-जाते पैसे गद्दी पर फेंकेगा, जैसे जुर्माने में दे रहा हो भला आदमी। अरे यह कोई चाय है? चाय पीना बाबू जी हमसे सीखिए। सुबह दुकान खोलते ही पहले अपना गिलास बनाते हैं। उस वखत राजा आये या लाट साहब, बात नही करते। उसी का तो यह नतीजा है।"

यह कहकर उसने अपनी बेडौल तोंद पर चक्करदार हाथ फेरकर थपथपी दी और तब बोला : "बाबू जी, १५ अगस्त से मैंने कलई के ये गिलास रख दिये है, जिससे राजी से नही तो लोग मजबूरी से ही सही, दो घडी सुस्ताना तो सीखें।"

वह अब फिर पहले की तरह ही बैठ गया और केतली उठाते हुए बोला : "बाबू जी, आपकी चाय ठण्डी हो रही है। पीजिए, अब आपको मेरा गिलास कुछ नहीं कहेगा" और वह इतने मीठे ढग से हँसा कि मैं उसकी तरफ देखता रह गया।

जोकर की तरह गिर-पडकर किसी को हँसा देना आसान है, पर हँसी मे एक बात पैदा करना कठिन है और अब भी कभी-कभी मुझे वह अनपढ और अनगढ दूकानदार याद आ जाता है कि वह सचमुच इस कला का पण्डित था। उसने गम्भीरता का वातावरण बनाकर उसमें हास्य का वह फूल खिलाया कि चाय-निर्माता ही नही, चाह-निर्माता भी हो गया।

भाई किशनचन्द सिलाई की मशीन और पंखों के स्थानीय विक्रेता हैं। वे एक दिन मिले, तो मैंने कहा : "भई, हमें एक पंखा चाहिए, पर वह घूमनेवाला हो।"

मेरा मतलब ऑस्सीलेटिंग पखे से था, पर वे हँसकर बोले : "भाई साहब, किसी दिन हमारी दूकान पर आ देखिए। आपने शायद ध्यान नहीं दिया : हमारा तो हर पखा घूमता है!"

वाह, एक सादे सवाल पर क्या रंगीन वारनिश हो गयी यह कि पखों की बात चलते ही यह बात जीभ पर आ जाती है।

बाजार का हास्य किसी भी राष्ट्र के सामूहिक जीवन की एक कसौटी है। यदि इस हास्य में फूहड़पन हो, तो मानना पड़ेगा कि यह राष्ट्र सामूहिक दृष्टि से अभी पिछड़ा हुआ है और सुघड़पन हो तो कह सकते हैं कि यह राष्ट्र सभ्य है, संस्कृत है। इस स्थापना की छाया में बाजारू हास्य एक राष्ट्रीय धरोहर है, जिसे सुरक्षित रखना ही नहीं सुसज्जित करना भी प्रत्येक राष्ट्र-अभिमानी का कर्तव्य है।



रात तकिया ऊँचा था !

सुबह जागा, तो गुद्दी के नीचे का पट्ठा अकड़ा हुआ था। हाथ से उसे दबाकर उठा, तो देखा कि रात दोनों तकिये सिर के नीचे रहे और सीमा से बाहर ऊँचाई पर सिर रखने का ही यह फल है। सोचा, तेल की मालिश करनी होगी, सिकाई भी, तब यह ठीक हो जायेगा—कोई सीरियस बात नही है।

निश्चय ही कोई सीरियस बात नही है—सीरियस यानी खतरनाक। पट्ठा अकड़ गया है, खुल जायेगा, इसमें सीरियस क्या होना था, पर उसमें कड़क है, बार-बार ध्यान उधर जाता है और ध्यान कोई ऐसा पदार्थ नही है कि जहाँ जाये, वही जमा रहे। उचटकर इधर-उधर भी झांक चलता है।

सिर ऊँचा रखने से दर्द क्यो हो गया ?

'हमेशा अपना सिर ऊँचा रखो' यह तो तेजस्वी पुरुषों का वचन है। सिर ऊँचा रखना जीवन का चिह्न है। जिसका सिर नीचा हो गया, उसका फिर रहा ही क्या ?

पर यह क्या, मुझे सिर ऊँचा रखने का ही यह फल मिला कि ग्रज हो गया हूँ, न इधर मुड सकता हूँ न उधर। यह अच्छा सिर ऊँचा किया !

केस तो सीरियस नहीं था, प्रश्न जरूर सीरियस है। सीरियस यानी गम्भीर। दर्द के गर्भ में यह तो समाजशास्त्र का—हाँ, जीवनशास्त्र का एक प्रश्न उभर आया। सिर ऊँचा रखना यदि जीवन की रक्षणीय तेजस्विता है, तो फिर ऐसा करने में यह दर्द क्यो ?

तप तो यह नही है, कष्ट-सहन भी तो यह नही है, यह तो रोग है।

रोग का सीधा-सा अर्थ है ' बीमारी, पर यह शब्द तो निरर्थक है। बीमारी का कुछ रूप तो है, पर अर्थ क्या है? असल में रोग का अर्थ है, शरीर के प्राकृतिक नियमों को भंग करने का दण्ड। शरीर को ठण्ड से बचाना चाहिए, परन्तु फिर नंगे, बस हो गया जुकाम और अब पीते रहो जुशान्दा। जो अपराध करेगा, वह दण्ड न भोगेगा तो क्या इनाम पायेगा?

तो इसका अर्थ हुआ कि सिर ऊँचा करना एक अपराध था और यह दर्द उसका दण्ड है?

सिर ऊँचा करना एक अपराध है, यह कहना क्या स्वयं अपने में एक अपराध नहीं है?

ये दो प्रश्न बने। इनमें सत्य कहाँ है? पहले या दूसरे में? दोनों के पक्ष में 'हाँ' कही जा सकती है और 'ना' भी। यह तर्क की महिमा है, पर तर्क निर्णायक नहीं होगा। यह मस्तिष्क की रेखाओं में अनेक रंग भर देगा, पर हृदय की वीणा उससे झंकृत न होगी। उसके लिए अनुभूतिमय चिन्तन की आवश्यकता है।

अनुभूति की छाया में दोनों का समन्वय है, पर समन्वय का आधार है सीमा। इन दोनों प्रश्नों की भी सीमा रचनी होगी। रचनी, यानी समझनी होगी।

सिर ऊँचा करना एक अपराध है। इसकी सीमा है शक्ति, यानी शक्ति से अधिक ऊँचा करना अपराध है।

सिर नीचा करना एक अपराध है। इसकी सीमा है, अशक्ति—दीनता, यानी दीनता के कारण सिर झुकाना एक अपराध है, क्योंकि अशक्ति स्वयं अपराध है।

सत्य अब सामने आ गया, पर उसे खोलकर देखने की जरूरत है?

जगनन्दन कल तक ग़रीब था, दूर के रिश्ते की एक बुआ मरी और उसे दस हज़ार दे गयी। उसकी आँखें हिरन हो गयी। तीन हज़ार की मोटर खरीदी और तीन मुक़दमे शुरू किये : दो दीवानी के और एक फ़ौजदारी के। तीसमार खाँ के नाम से लोग अब उसका मज़ाक़ उड़ाते

है। हरिनन्दन भी कल तक एक गरीब था। दूर के रिश्ते की बुआ उसे भी दस हज़ार दे मरी। तीन हज़ार में उसने अपने बूढ़े पिता का ऋण उतारा, एक हज़ार में घर की मरम्मत की, एक हज़ार में लड़की व्याही, पाँच सौ में पड़ोस के मन्दिर का फ़र्श बनवा दिया और बाकी से अपनी दूकान खोल ली। दो-चार आने रोज़ गरीबों में बाँट देता है, सब उससे खुश हैं।

दोनों ने सिर ऊँचा किया, पर एक अपराधी हो गया और दूसरा सम्मानित, सीमा का यही रूप।

और लीजिए: श्रीकृष्ण भी लेखक है और नन्दराम भी। दोनों चाहते हैं कि उनके लेख प्रशंसित हों और उनके मित्र उन्हें लेखक के रूप में जानें।

श्रीकृष्ण अपने लेख का आरम्भ करने से भी पहले, जो मिलता है, उसी से उसका ज़िक्र करने लगता है: "मुझे स्त्रियों के बारे में एक लेख लिखना है। एक सम्पादक का बड़ा तकाज़ा हो रहा है। 'सरस्वती' में उन्होंने जब से मेरा वह पहला लेख पढ़ा, तभी से मेरे पीछे पड़े हैं। फुरसत नहीं मिलती, वरना एक लेख रोज़ लिखता।" लेख लिखकर वह अपनी मेज़ पर रख लेता है और जो आता है, उसे ही सुनाता है — जो लेख को समझने योग्य नहीं, उनसे भी चर्चा करता है। सबसे पूछता है कैसा रहा? फिर-फिर पूछता है और कहीं किसी भी लेख की चर्चा हो, उसके साथ अपनी तुलना अवश्य कर बैठता है।

मित्रों से ज़बरदस्त तारीफ वसूल करता है और फूल उठता है। पीछे उसके मित्र उसे होलू कहते हैं।

नन्दराम के लेख बराबर पत्रों में छपते हैं, पुरस्कार भी उसे मिलते हैं और समारोहों के निमन्त्रण भी। अपने लेखों के प्रसंग आने पर वह भी मित्रों से चर्चा करता है और उसके मित्र जानते हैं और मानते भी हैं कि वह एक श्रेष्ठ लेखक है।

दोनों में प्रशंसा की चाह है, पर एक को सीमा ने प्रशंसनीय बना

दिया और दूसरे को ढील। सिर ऊँचा रखने की भी यही बात है – सिर ऊँचा रखो, पर शक्ति की सीमा देखकर। यों ही सिर ऊँचा किये फिरोगे, तो लोग तुम्हें ऊँट कहेंगे। सिर ऊँचा करने की भी एक कला है और इस कला की कुंजी यह सीमा ही है।

अच्छा, तो सीमा में ही सही, निष्कर्ष यह निकला कि सिर ऊँचा रखो। सुनने में यह अच्छा लगता है, पर भीतर तक उतरें तो बड़ी बेहूदी बात है। सिर ऊँचा रखने की बात को अच्छा-अच्छा कहते युग बीत गये, इसी से अच्छा लगता है। शब्द में स्वयं तो कुछ शक्ति होती ही नहीं, जनता के व्यवहार द्वारा यह शक्ति उसमें प्रतिष्ठित की जाती है। 'सिर ऊँचा रखो' इसमें जो एक ऊँचाई हमें भासती है, वह भी प्रतिष्ठित की हुई है, स्वय अपनी नहीं है। तो यह सोचना होगा कि इस वाक्य में ऊँचाई की यह भावना कैसे प्रतिष्ठित की गयी या हो गयी ?

सिर अपनी जगह पर है, पैर अपनी जगह। सभा-समाज में कोई पैर ऊँचा करके बैठे तो यह असभ्यता है। बड़ी उलझन है, पर यह सुलझ जायेगी, यदि हम और आगे बढ़ें और यह पा लें कि असल में मौलिक तत्त्व यह है कि सिर नीचा न करो, जहाँ वह प्रकृति द्वारा स्थापित है, वहाँ से उसे नीचे मत झुकाओ। इस सत्यता का – सत्त्व का – लोक-व्यवहार में अनुवाद हो गया : सिर ऊँचा रखो। सिर ऊँचा रखो; यानी सिर नीचा न करो।

सिर नीचा न करो; क्योंकि सिर को नीचा करना पाप है, पर सिर नीचा न करें, तो माता-पिता के चरण कैसे छुएँ, देव-वन्दना कैसे करें ? वहाँ सीमा का प्रश्न था, यहाँ उद्देश्य का प्रश्न है।

'सिर नीचा करना' एक प्रतीक है : लज्जा का, दीनता का, साहस-भग का, निश्चय की शिथिलता का, लघुता की स्वीकृति का।

राधेश्याम ने चोरी की, पकड़ा गया, अब उसकी आँखें ऊपर उठतीं ही नहीं। लज्जा ने सिर नीचा कर दिया। प्राचीन-काल का एक दृश्य है : महाराज बाहर से अचानक महल में आ गये, चारों तरफ़ सन्नाटा छा गया, जो बाँदी जहाँ थी, वहीं नीचा सिर किये खड़ी रह गयी। महाराज

ने किसी से कुछ नही कहा, वे उनकी ओर विना देखे ही निकल गये, पर आँखें किसी की नही उठी, यह दीनता का बोधक है।

दस सिपाही कतार मे खडे है, बेहद थके हुए है। सेनापति पूछ रहा है: कोई उस पहाडी पर जा सकता है? चौबीस मील की चढाई है, सिपाहियों का साहस भंग हो गया, सिर नीचा हो गया। ऊँचा सिर करके एक ने कहा: मैं जाऊँगा। सेनापति ने कहा: शाम से पहले पहुँचना है। सिपाही का सिर नीचा हो गया, यह निश्चय ही शिथिलता है। माता-पिता और देवता के चरणों में सिर झुकाना भी लघुता की स्वीकृति है और राजा मानसिंह का मुगल-सिंहासन के सामने सिर झुकाना भी। उद्देश्य और भावना ने एक को पवित्रता दी है और दूसरे को हीनता। लज्जा, दीनता, साहस-भंग, अनिश्चय और लघुता ये मानवता का शोषण करनेवाली जोंकें है, जो हमारे व्यक्तित्व का रक्त चूसकर उसे खोखला बना देती हैं। इनसे हमें निरन्तर युद्ध करना है। इसी युद्ध का नारा है: 'सिर नीचा न करो।' इसी नारे का फलितार्थ है: 'सिर ऊँचा रखो।'

ओह, विचारो की गगा मे कहाँ से कहाँ बह गया, बात तो इतनी ही है कि रात तकिया ऊँचा था।



जी, आप तो अपने ही हैं !

बात मुंह से कही जाती है, मुंह पर कही जाती है और मुंह देखकर कही जाती है। उस दिन याद है न आपको उस मीटिंग में मालवीय जी महाराज बोल रहे थे कि बिजली बुझ गयी और बिजली गुप्प, तो माइक चुप्प, पर वाह क्या गला था मालवीय जी का और क्या फेफड़े कि उस उतनी बड़ी सभा में भी उनकी दहाड़ सबके कानों तक पहुँचती रही। अरे भाई, सचमुच वे तो शेर थे अपने समय के !

बड़ा शानदार भाषण रहा उस दिन का और तालियों की गड़गड़ाहट से आसमान गूँज-गरज गया, पर जब सभा से लौटे, तो याद है आपको चौधरी बलराम ने रास्ते में क्या कहा था ?

"हूँ, क्या कहा था ?"

वाह, सबसे ज्यादा तो ठहाका मारकर उनकी बात पर आप ही हँसे थे और आप ही भूल गये ? रास्ते में हम सब लोग जलसे की तारीफ़ों के पुल बांधने लगे, तो चौधरी साहब बोले : "देखो जी, जहाँ तक मालवीय जी महाराज के लेक्चर की बात है, सो जो कहो थोड़ा है, पर जो जलसे की बात पूछो, तो जमा तो खूब था, पर बिजली ने दाल में किरकल कर दी।" और तब अपनी बात पर स्वय ही टीका-सी करते हुए चौधरी साहब बोले "भाई, लाख अच्छे हो लेक्चर में, पर जबतक बोलनेवाले का मुंह न दिखाई दे, मजा नहीं आता।"

चौधरी साहब के अनुभव की छाया में ही तो मैं कह रहा हूं आपसे कि बात मुंह से कही जाती है, मुंह पर कही जाती है और मुंह देखकर कही जाती है। वैसे बात कही जाती है, मुंह फेरकर भी, पर वह बात

होती हैं गुस्से की, ताने-तनाजे की और लाज-शरम की। बात-चीत असल में मुहब्बत-प्यार की राह-सड़क है और इसका गुस्से या ताने-तनाजे में उपयोग ऐसा ही है, जैसे हथियार बने तो होंगे कभी अपने को बचाने के लिए ही, पर आज है वे भयानक युद्धों के महासाधन!

पर खैर, जीवन में गुस्सा भी है, प्यार भी है और हाँ, प्यार-मुहब्बत की एक बात है वो, जो मुंह झुकाकर, आँख नीची करके कही जाती है और दूसरी है वह, जो कही तो जाती है मुसकराकर और शान्ति से ही, पर उसका मन्शा होता है दूसरे को धोखा देना; निश्चय ही इस ढंग से कि वह धोखा खा जाये, पर बुरा न माने!

आप तो जानते ही थे लाला रामसहाय को? हाँ, हाँ वे ही मंगलपुरा-वाले। पिछले साल बेचारे परमात्मा के प्यारे हो गये, पर खैर कोई दु ख की बात नहीं। तिरासी वर्ष की उमर इस युग में तो सवा शताब्दी है। संसार का सब सुख भोग लिया और सब कुछ छोड गये, ऐसी जिन्दगी और मौत भगवान् सबको दे।

बडे ही भले आदमी थे बेचारे लाला रामसहाय। मेरे बडे भाई के विवाह की बात है कि पिता जी एक परेशानी मे फँस गये, बात यह हुई कि भाई का रिश्ता जहाँ उन्होंने किया, वे पहले से अपने रिश्तेदार ही थे। कभी तो बेचारों की हालत ऐसी थी कि थान से कभी गाय-भैंसें नही हटी और दरवाजे से घोडा, पर लक्ष्मी चंचला है। दो-तीन वर्ष हुए झटका खा गये और बस अब इज्जत सँभाले बैठे हैं। पिता जी से उन्होंने कुछ छिपाया नही, पर पिता जी ने सुना, तो उन्हें गले से लगाया और धीरज देकर कहने लगे : "ग़रीबी-अमीरी तो महाराज, आती-जाती लहरें हैं। लडका आपका है और लडकी मेरी है। चार सेर चावल उबाल लेना सब काम हो जायेंगे। जाओ, फिकर मत करो।"

वे बेचारे बेफिक्र हो चले गये, पर बात यह उन दोनों के ही बीच रही और यहाँ एक झमेला खड़ा हो गया। पिता जी ने अपने अन्दाज से लोगों को बारात में चलने को कहा, पर उनसे बिना पूछे चाचा जी ने

अपनों से कह दिया और सबसे बड़े भाई साहब ने भी। अब जो तीनों लिस्टें मिलायी गयीं, तो कोई ढाई सौ नाम बैठे और अभी रिश्तेदार, घरवाले और नौथारी अलग !

इस शताब्दी के आरम्भिक वर्षों की यह कहानी है। उन दिनों बड़ी लम्बी बारातें चढ़ा करती थीं। जात-बिरादरी मेल-मुलाक़ात में जिसे न टोको, वही बुरा मानता था। फिर मुसीबत यह कि गरमी का मौसम और हरद्वार की बारात, मुफ्त में तीर्थ-यात्रा, कौन चूकेगा इस पुण्य अवसर को और यों यह कोई तीन सौ आदमियों का क़ाफ़ला तैयार !

पिता जी ने लाला रामसहाय से अपनी परेशानी कही, तो वे हँस पड़े : "शाह पण्डित जी, यह भी कोई परेशानी की बात है। तीन सौ के तीन सौ को टोक दूँ और आप चालीस चाहें तो चालीस और चार चाहें तो चार ही चलें।"

पिता जी ने कहा : "यह तो ठीक है लाला रामसहाय, पर जात-बिरादरी के सब रूठ बैठें तो क्या होगा ?"

उछलकर लाला जी बोले : "कोई रूठ गया, तो फिर हमारी बात क्या हुई ? बात तो तभी है कि रूठे कोई नहीं और जूते में पैर भी किसी का न पहुँचे।"

दूसरे दिन लाला रामसहाय पिता जी को लेकर निकले और पण्डित जी अनोखेलाल के घर पहुँचे। बिरादरी में अनोखेलाल मशहूर अकड़ू खाँ थे। इधर-उधर की बात करके लाला जी उन्हें जगह पर लाये और बोले : "ये पण्डित जी एक झमेले में फँस गये हैं। इसीलिए हम आपके पास आये हैं। आप तो अपने ही हैं, आपसे क्या छिपाव। आप जानें; हरेक से तो ऐसी सलाह हो नहीं सकती।"

इस भूमिका के बाद बोले . "हमने तो इन्हें यह सलाह दी है कि भाई अपनों-अपनों के नाम काट दो। बात यह है अनोखेलाल जी कि जिस ग़ैर का नाम काटोगे वही बुरा मानेगा। आप तो शहर के सबसे बुद्धिमान् आदमी हैं, क्या राय है आपकी ?"

अपनेपन के इस रिश्ते पर नयी वारनिश करते-से बोले . "राय बावन तोले पाव रत्ती ठीक है और सबसे पहले मेरा नाम छोड दो इसमें से।"

रामसहाय और पिता जी दोनो चिल्ला पडे ना-ना, यह कैसे हो सकता है, आपके चलने से तो हमारी शोभा हो है।"

गरज यह कि पण्डित अनोखेलाल का नाम कट गया और एक सप्ताह के बाद जो लिस्ट देखी तो उसमें पचपन नाम थे, क्योंकि लाला रामसहाय एक सप्ताह में पिता जी, चाचा जी और बडे भाई साहब, तीनों के ही साथ घूमे और सबको बूटी पिला आये . "अजी, आप तो अपने ही हैं" और यह बूटी इतनी कामयाब रही कि सब मान गये कि वे अपने ही है और फिर भी अपने से सौ कोस दूर रहे। बारात में एक न जा सका।

तभी तो कह रहा हूं आपसे कि प्यार-मुहब्बत की एक बात है वो, जो कही तो जाती है मुसकराकर और शान्ति से ही, पर उसका मतलब होता है दूसरे को धोखा देना, निश्चय ही इस सफाई के साथ कि वह धोखा तो खा जाये, पर बुरा न माने।

बारात की इस घटना के कोई पचास वर्ष बाद अभी उस दिन हमारे ही एक दोस्त ने हमें यह घूंटी इस सफाई से पिलायी कि हम देखते रह गये।

शमशेर है हमारा पुराना लँगोटिया। साथ रहे, साथ पढे, साथ घूमे, साथ काम किया। जाने कितने खेत हमने साथ नापे और कितनी सडकों की धूल साथ चाटी, पर क़िस्मत की बात कि पट्ठे ने राजनीति मे ऐसी छलांग मारी कि देखते-देखते हुकूमत की एक शानदार कुरसी पर बैठा नज़र आया। अखबारो में उसके दौरानो की खबरें पढने के बाद जब वह खुद एक बार अपने शहर में आया, तो हम भी उससे मिलने गये। डाकबँगले में वह ठहरा था और क्या कहने उसकी शान के। चमकदार रंगीन वरदियो के अरदली अदब से घूम रहे थे और मिलने के लिए आये हुए बडे लोग नम्बरवार बैठे थे। भला हमारा क्या नम्बर, हमारा तो वह पुराना दोस्त था, पर अरदली ने हमें भीतर घुसने नही दिया और कार्ड

ले लिया।

बहुत देर हो गयी किवाड हो न खुले। अर्दली से पूछा, तो बोला : "किसी खास दोस्त से मुलाक़ात कर रहे हैं साहब। अभी उनके लिए चाय मँगायी है। वे चाय पी लें, तो आपका कार्ड दूँगा।"

हमने सोचा हमसे बढ़कर उस गधे का और खास दोस्त कौन है, जिससे वह कमरे मे घुसा यों घुट्टर-घूं कर रहा है, पर हम अपने से सवाल ही पूछ सकते थे, कुछ जवाब तो दे ही न सकते थे। मन मसोसे इन्तज़ार कर रहे थे, करते रहे।

कोई आध घण्टे बाद अपने रोबीले मुँह को गर्वीला बनाये हुए कमरे से ठाकुर नौनिहाल सिंह निकले। वे भीतर से निकले, तो मैं जैसे पहाड़ से गिर पड़ा। मुझे याद आ गयी वह सन्ध्या, जिसमें इन्हीं ठाकुर साहब ने अपने गाँव मे जलसा करने पर मुझे और शमशेर को अपने आदमियों से अपने सामने पिटवाया था। मैंने टटोलकर अपनी पसलियों को देखा, तो आज भी उनमें उस मरम्मत की कसक थी।

भीतर कमरे में जाते ही जल-भुनकर मैंने शिकायत की तो मुझे लिपटकर शमशेर साहब बोले : "अजी भाई साहब, आपकी क्या बात; आप तो अपने ही हैं। इन गधों से मैं इसलिए मिलता-जुलता हूँ कि पार्टी को इन लोगो की ताक़त मिलती रहे।"

सुनकर मुझे हँसी आ गयी। मैंने मन ही मन कहा : क्यो भाई, यह लाला रामसहाय का पचास वर्ष पुराना जुशान्दा तू मुझे पिला रहा है और तब वह बारातवाली बात ज्यों की त्यों मेरी आँखों में घूम गयी।

बात यह है कि हर पुस्तक में एक भूमिका होती है, हर जलसे में प्रमुख वक्ता के भाषण से पहले कुछ गाने या कविता पढ़वाने की प्रथा है और जो भी किसी के पास अपने किसी काम से जाता है, पहले ऐसी बात करता है जिससे उसका मन बहले और वह प्रसन्न हो।

"भला यह क्यों ?"

यह इसलिए कि हँडिया में दूध डालने से पहले हम उसे धोते हैं,

पोछते हैं, साफ करते हैं। बस यही बात है इसमे भी।

आप मेरी बात शायद पचा नही पाये, तो लीजिए, मैं उसे नये रूप में आपसे कह दूँगा। पुस्तक मे भूमिका इसलिए लिखी जाती है कि पाठक के मन को वह पुस्तक के लिए एक जिज्ञासा दे दे, गाने और कविताएँ इसलिए कि उस भाषण के लिए जनता खिच आये और मतलब की बात से पहले चिकनी-चुपडी इसलिए कि दूसरे का मन मुलायम हो। इसी तरह हँडिया की धुलाई-सफ़ाई इसलिए कि उसकी खटास दूध को फाड न दे।

तो हम जब किसी से कुछ ऐसी बात कहना चाहते हैं कि जो स्वयं हमारी निगाह में ही ठीक नही है, तो उसके लिए हवा तैयार करते हैं, जिसमें वह बेठीक बात उसे पच जाये। आप तो अपने ही हैं, इसका मतलब है कि आप पर मेरा विशेष अधिकार है। यहाँ तक कि मैं एक अनुचित बात भी कहूँ, तो आपको वह माननी पडेगी और यह बात मैं आपसे इसीलिए तो कह रहा हूँ, वरना बात तो यह ऐसी है कि किसी गैर से कही जाये, तो वह लड पडे—नाराज हो जाये!

अब बताइए कौन बेवकूफ है, जो इस दीवार को लाँघकर कहे कि नही साहब, मैं आपका अपना नही हूँ, मै तो गैर हूँ, और इसलिए नाराज हूँ। कोई इसके लिए तैयार नही है और इसलिए जेब कटती देखकर भी मुँह फेर लेने में ही भलाई दिखाई देती है।

आदमी आदमी को धोखा देता है यह सच है, पर इससे भी बडा सच यह है कि आदमी सबसे अधिक धोखा अपने को देता है और उसका भी एक मन्त्र यही है . अजी आप तो अपने ही है।

"वाह, यह खूब कही आपने कि यह अपने को धोखा देने का भी मन्त्र है।"

ओहो, खूब और बेखूब क्या थी इसमें, यह तो एक खुली बात है और फिर खुली-बेखुली की क्या बात, लीजिए, देख ही जो लीजिए।

भाई रघुनन्दन जी हमारे गहरे मित्र हैं। हमदर्दी के हिमालय, तो काम के कैलास। आप पर जान दे दें और अपने को भूले आपके ही काम में जुटे रहें, पर मुसीबत यह है कि ब्रह्मा जी ने किसी को भी बिना अधूरा किये नहीं छोड़ा। बेचारे रघुनन्दन जी भी जरा पेट के पतले हैं, बात पेट में खपती नहीं है। कहीं किसी की कुछ सुनें, तो प्यार से कहे बिना चैन नहीं पाते।

उस दिन मेरे पड़ोसी रामशरण जी के यहाँ से आये, तो मेरे पास को सरककर और अपनी बुलन्द आवाज को खुद ही धीमी करके बोले : "भाई साहब, आप तो अपने ही हैं, आपसे क्या छिपाव, किसी और से तो मैं कह नहीं सकता, पर आप तो अपने ही हैं। सुना है आपने कि पुलिस को यह पता चल गया है कि रामशरण चोरों से माल खरीदकर धन कमाता है और अब वह उसके पीछे पड़ी है।"

मैंने उन्हें धमकाया कि क्यों अपनी आदत के अनुसार तुम दूसरों की बातें इधर-उधर उड़ाते फिरते हो, तो बोले . "मैं किसी और से थोड़े ही कहता फिरता हूँ। बस आपसे ही कहा है और आप तो अपने ही हैं।"

मैं जानता हूँ कि रघुनन्दन जी लाख कहें, मेरी कोई बात वे जान लें, तो उसे भी घर-घर गायेंगे और उन सबको अपने बताते फिरेंगे। बात यही है कि अपना दोष अपने से छिपाने के लिए वे इस मन्त्र का जाप करते हैं।

इनसान, एक अजीब जानवर है, जो दूसरो को ही धोखा नहीं देता, स्वयं अपने को भी धोखा देता है और यह सब इस सफाई के साथ कि धोखे की चोट इतनी गहरी न हो जाये कि आदमी तड़प पड़े और उसे सहने से इनकार कर दे।

और हाँ देखिए, ये सब किसी से कहने की बातें नहीं हैं, फिर भी आपसे कह रहा हूँ, क्योंकि आप तो अपने ही हैं।



वे दो चेहरे : एक देखा, तो दूसरा अनदेखा

कुम्भ में, कुछ लोग कहते हैं बीस-पचीस लाख आदमी आये थे और कुछ-कुछ की राय है पन्द्रह-बीस लाख, दोनों में किसकी राय ठीक है, मैं नहीं जानता, पर इतना जानता हूँ कि दस लाख से कम आदमी वहाँ नहीं थे।

दस लाख आदमियों के दस लाख चेहरे और कमाल यह कि दस के दस लाख चेहरे एक-दूसरे से अलग। कुदरत का यह सचमुच कमाल ही है कि दुनिया का हर चेहरा एक-दूसरे से भिन्न है और उसके गले की आवाज भी।

क्यों जी, अगर दुनिया में हर आदमी का चेहरा और आवाज़ एक ही तरह की होती, तो क्या होता ?

होता क्या, एक घपला मच जाता, कोई किसी को न पहचानता और तब आदमियों की हालत भी जानवरों-जैसी हो जाती कि मिले-मिले, न मिले तो न मिले। सचाई यह है कि तब दुनिया मे सभ्यता का जन्म ही न होता।

और लो, यही एक बात बताऊँ आपको। बात क्या है ज्ञान का भण्डार है कि यदि कुदरत हर आदमी का चेहरा और आवाज़ अलग न बनाती, तो सभ्यता का जन्म ही न होता, इस बात का असली मतलब यह हुआ कि अनेकता, विविधता और एक से दूसरे की विचित्रता के कारण ही ससार में सब प्रकार की उन्नतियाँ हुई हैं।

देखते नहीं आप कि चेहरों और स्वरों की भिन्नता से भी दुनिया का काम नहीं चला और उसने एक और भिन्नता को जन्म दिया। वह भिन्नता

है नामों को। इस तरह अब हरेक चेहरा और आवाज़ ही एक-दूसरे से भिन्न नहीं, नाम भी भिन्न है।

इससे कार-व्यवहार में सुभीता होता है इसमें सन्देह नहीं, पर एक बात है कि इससे आदमी की एक परेशानी भी बढ़ गयी है और वह परेशानी है इन चेहरों को याद रखने की। हर चेहरा अलग, हर आवाज़ अलग, हर नाम अलग, अब आदमी किस-किसको कैसे याद रखे!

न रखे याद, क्या कोई ज़रूरी है हर देखे चेहरे का याद रखना? बात ठीक है, पर याद न रखने से भी तो काम नहीं चलता। अक्सर ऐसा होता है कि इस याद न रखने से बड़ा झमेला खड़ा हो जाता है।

अभी उस दिन एक सज्जन मेरे कार्यालय में धमाके के साथ आकर खड़े हो गये। हँसी की बात नहीं, सचमुच धमाके के साथ और लगे हैलो-हैलो करने, जैसे मेरे कोई लँगोटिया यार हों। अब वे उँडेले डाल रहे हैं दोस्ती के लच्छे और मैं सकपकाया हुआ कि हे भगवान्, यह आखिर है कौन?

स्मृतियों के चौराहे पर मैंने जाने कितने चक्कर काटे, याद का घोड़ा जाने कहाँ-कहाँ घूम आया, पर उनका अता-पता ही न हाथ लगा। रिश्ते-दारों की सारी लिस्ट भीतर ही भीतर कई बार खदरौल डाली, दोस्तों की बही के पन्ने उलट गया, पर उनका नाम कहीं दिखाई न दिया। स्कूल-कालिज में तो कभी पढ़ने का मौक़ा ही जीवन में न आया, इसलिए क्लास-फ़ेलो की सूची मेरे पास कहाँ होती, पर हाँ, पिछले सालों में दो-तीन बार जेल काटना क़िस्मत में लिखा था, इसलिए जेल-फ़ेलो की लिस्ट दिमाग़ में है, उसे भी टटोल गया, पर ये हज़रत कहीं उसमें भी दिखाई न दिये।

अब हाल यह है कि वे उफने पड़ रहे हैं और मैं बच-बचकर बातें किये जा रहा हूँ, पर देखता हूँ उनका सामान भी मेरी मेज़ के सामने ही रखा है — कई छोटी-बड़ी अटैचियाँ, बड़ा-सा बिस्तर, खाने की टोकरी, [illegible], और भी बहुत कुछ।

सोचा : यह जागलू कहाँ से आ कूदा है, यह पता चले, तो शायद अन्दाज की बेल फैले और पूछा : "कहिए जनाब, इस साजो-सामान के साथ कहाँ से आ रहे हैं ?"

बोले : "मसूरी गया था। वृक्ष-शास्त्र में मेरी दिलचस्पी है। तुम्हारे शहर का सरकारी बाग देखना था। सोचा : तुमसे भी मुलाक़ात हो जायेगी, बहुत दिन हुए मिले और बाग भी देख लूँगा। बस इधर से निकल आया।"

साफ है कि मेरा यह निशाना भी खाली गया। मैंने दूसरा साधा और पूछा : "तो घर पहुँचने से पहले और कहाँ-कहाँ के बाग देखने हैं ?"

बोले . "बस, अब तो सीधा बीकानेर ही जाऊँगा, बहुत दिन हो गये घर से निकले।"

इस जवाब से इतना पता चला कि ये बाबू जी बीकानेर के निवासी है, पर मुझे इसी जन्म में कही मिले थे या पहले जन्म की मुहब्बत इन्हें यहाँ खीच लायी है, यह मसला अब भी एक रहस्य ही रहा।

मेरे बेटे ने यह बात ताड ली और मैं उठकर बाहर गया, तो उसने इस रहस्य का भेद खोल लिया कि ये महाशय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के किसी अधिवेशन में मुझे मिले थे और वहाँ हम दोनो साथ रहे थे, एक ही कमरे मे या पास-पास के कमरों में।

खैर, इज्जत बच गयी, बात बिगडते-बिगडते रह गयी और अब मैं उनसे खुलकर बातें कर सका, पर चेहरे को याद रखने का मसला तो इससे हल नही होता, क्योकि न तो ऐसा होशियार बेटा ही भगवान् ने सबको दिया है और न मैं अपने बेटे को अपना 'चेहरा-पहचान-मन्त्री' बनाकर हर समय अपने साथ ही रख सकता हूँ।

फिर यह भी तो नही कि चेहरा पहचानने की जरूरत मेरे कार्यालय मे ही पडती है। उस दिन रेल मे वे देहाती सज्जन मिल गये और मिलते ही बोले : "मौसा जी, नमस्ते !" मै नही जानता कि मौसा के जोड़-तोड़ क्या है और कौन-कौन किस-किसका मौसा होता है, फिर भी पहला

पड़ा . नमस्ते भैया !

कहना पड़ा और कह भी दिया, पर बात-चीत की गाड़ी हमारे देश में यों ही तो नहीं रुक सकती। वे बोले : "मौसी जी तो अच्छी हैं ?"

अब मैं क्या जवाब दूँ उन्हें, क्योंकि यदि मौसी जी का अर्थ मौसा जी की पत्नी ही है, तो उस सौभाग्यवती को स्वर्ग सिधारे बरसों बीत चुके, पर स्वयं पत्नी-विहीन होकर भी मैंने उन्हें मौसी-विहीन करना उचित न समझा और कहा : "जी, आपकी कृपा से सब कुशल है।"

बोले . "फिर तो आपके दर्शन ही नहीं हुए। हमारे यहाँ तो सब आपको हमेशा याद करते हैं !" मैं वह पड़ा था, तो कहना ही था, कहा . "यह सब आपकी कृपा है।"

गाड़ी धीमी पड़ी, वे उठ खड़े हुए। चलते-चलते बोले : "अगली तीजों पर जरूर आना मौसा जी और मौसी जी को भी जरूर साथ लाइयो !"

वे चले गये, पर मैं सोचता रहा कि आज मैं यों किसका मौसा जी बन गया और अगली तीजों पर मुझे किसका आतिथ्य ग्रहण करना है ? पता नहीं वे बेचारे चेहरों की वैरायटी शो में घूम रहे थे या मैं ही नालायक मौसा निकला कि उनके चेहरे की याद न रख सका !

कुछ भी हो चेहरों का चक्कर बड़ा विकट है और देखे हुए चेहरों को याद रखना आसान नहीं, पर यह कैसी बात है कि चेहरों की इस भूल-भुलैया में कुछ ऐसे भी चेहरे सामने से गुजरते हैं कि उन्हें भूलना फिर हमारे बस की बात नहीं होती – वे आँखों की राह शायद हमारे दिलों पर नक्श हो जाते हैं, खुद जाते हैं कि बिना चाहे और बिना कोशिश किये भी हमें याद आते रहते हैं, और भले ही हम भुलक्कड़ हों और उन्हें भी भूल जाते हों, जिनके हम नक़द मौसा जी हैं, पर उन्हें भूल नहीं पाते !

ऐसे ही दो चेहरों की कहानी मैं आज आपको सुनाना चाहता हूँ। शायद आप भी उन्हें भूल न पायें !

हमारे नगर के हाई स्कूल में एक प्रधानाध्यापक आये तो उनका नाम

जनता के लिए पड गया : बंगाली हेडमास्टर। बात यह कि वे बंगाल के निवासी चट्टोपाध्याय थे, पर थोडे दिनो में ही उनका नाम बदल गया और उन्हें सब कहने लगे : झुनझुनेवाला हेडमास्टर !

झुनझना एक छोटा-सा खेल, जो गोद के बच्चो को बहलाने के काम आता है; क्योकि हर झुनझुने में एक आवाज होती है झुन-झुन-झुन और बच्चो का मन उसमें उलझ जाता है। झुनझुनेवाला हेडमास्टर; भला यह नाम हमारे उन हेडमास्टर महोदय का क्यो पड गया ?

प्रश्न उचित ही है, क्योकि सभी जानते हैं कि हाई स्कूल में दूध पीते बच्चे तो पढते नही कि प्रधानाध्यापक जी के लिए झुनझुना जेब में रखना भी एक जरूरी जिम्मेदारी समझी जाये कि बालक कुनकुनाया और उन्होने खनखनाया ! फिर किसी हाई स्कूल के हेडमास्टर का यह लोक नाम क्यों, कैसे ?

बात यह थी कि हमारे हेडमास्टर साहब जरा टिपटॉप आदमो थे। वे इस बात को बहुत नापसन्द करते थे कि जो चीज उन्होने जहाँ रख रखी है, उसे कोई इधर-उधर सरका दे और हमारे यहाँ ऐसे आदमी बहुत कम है जो चीज को देखकर ज्यो की त्यों रख सकें, तो बस जहाँ किसी ने चट्टोपाध्याय जी की चीज छुई कि वे छछूंदर हुए !

अन्दाजन ऐसा मालूम होता है कि वर्षो यह प्रयत्न करने पर भी कि लोग उनकी चीजें न छुएँ और छुएँ तो ज्यों की त्यों रख दें, जब उन्हें सफलता न मिली तो उन्होंने झुनझुने का आविष्कार किया।

झुनझुने का आविष्कार ? हाँ जी, झुनझुने का आविष्कार ! देखिए, मेरा मतलब यह न समझिए कि मैं यह कह रहा हूँ कि झुनझुना इस देश में था ही नही। उसे पहले-पहल चट्टोपाध्याय ने ही खोज निकाला। मेरा मतलब यह है कि उन्होने झुनझुने का एक नया प्रयोग आरम्भ किया।

उन्होंने एक बहुत खूबसूरत प्लास्टिक का बना जापानी झुनझुना खरीद लिया। तीन उसमें घुंघरू और तीन ही रंगीन रिबन। अब झुनझुना उनकी मेज को दराज में और वे काम में लीन। स्कूल के एक

बालक का पिता उनके पास आया कि मेरे लड़के की फ़ीस माफ़ कर दीजिए। उन्होंने क्लर्क को बुलाया कि वे स्थिति समझें, इतने में वे सज्जन उनकी मेज पर रखे पेपरवेट को उठाकर यों ही देखने लगे। पेपरवेट एक पेपरवेट, फिर उसका उठाना क्या, देखना क्या, पर आदत हम लोगों की।

बस उन्होंने एक पेपरवेट उठाया कि चट्टोपाध्याय ने दराज खींचा और वह झुनझुना निकालकर उनकी ओर बढ़ाया "लीजिए, इससे खेलिए, वह तो एक मामूली पेपरवेट है!"

अब एक अजब दृश्य कि मेज के इधर प्रधानाध्यापक चट्टोपाध्याय और उधर वे सज्जन। चट्टोपाध्याय उनकी ओर अपना झुनझुना उंगलियों में निहायत नज़ाकत के साथ थामे कह रहे हैं, "लीजिए, इससे खेलिए!" और वे सज्जन भौंचक और झेंपे हुए, पर हमारे चट्टोपाध्याय अभी नहीं मानेंगे और अपनी बात नये-नये रूपों में दोहराये जायेंगे: "हाँ-हाँ, लीजिए भी इसमें शरमाने की क्या बात? अरे साहब आप तो नाहक शरमा रहे हैं, लीजिए, ज़रा दिल बहलाइए। हाँ जी, बूढ़े और बालक का दिल एक-सा होता है और झुनझुना दोनों के काम की चीज़ है! लीजिए, शौक़ फ़रमाइए। ज़रा बजाइए, तो ताल के साथ, इसमें खेल और संगीत दोनों हैं।"

चट्टोपाध्याय यह सब बारी-बारी से कहे जा रहे हैं और नये-नये ढंग से झुनझुना भी बजाते जाते हैं। वे बढ़ रहे हैं, नये-नये तरह का मुंह बना रहे हैं और सामनेवाला इस हालत में है कि न पेपरवेट नीचे रख पा रहा है, न कुछ कह ही — बस झेंप में डूबा शायद सोच रहा है कि हे भगवान्, आज कहाँ आ फँसा!

बस चट्टोपाध्याय ने दो-चार बार ही अपने झुनझुने से खिलाया था कि वे बंगाली हेडमास्टर से झुनझुनेवाले हेडमास्टर हो गये। उन्हें हमारे नगर से गये वर्षों गुज़र गये, पर अब भी कोई मेरी मेज की चीज़ों को आदतन छूता या इधर-उधर करता है, उनका चेहरा मुझे याद आ जाता

है और मैं अनुभव करता हूँ कि वे इस आदमी को अपना झुनझुना दिखा-कर कह रहे हैं : "हाँ हाँ, लीजिए, शौक़ फरमाइए। अरे साहब, आप तो नाहक़ शरमा रहे हैं, लीजिए, जरा दिल बहलाइए।"

मेरा खयाल है कि देखे बिना ही हमारे हेडमास्टर का चेहरा अब आपको भी अकसर याद आया करेगा।

सचाई यह है कि इस दुनिया में जहाँ हर चेहरे की रंगत अलग है, चेहरो को याद रखना बहुत मुश्किल है, पर कुछ चेहरे ऐसे हैं कि हम उन्हें याद रखना चाहें, या न चाहें, उन्हें हम भुला ही नही सकते। ऐसा मालूम होता है कि आँखो की राह हमारे हृदय पर वे अपना शासन जमा लेते हैं। ऐसे एक चेहरे की कहानी अभी मैं आपको सुना रहा था। लीजिए, इस दूसरी कहानी में एक और कमाल है कि यह जो दूसरा चेहरा मुझे अकसर याद आता है और जिसे मैं भुला नही पाता, उसे मैंने कभी देखा नही है।

"वाह, जो चेहरा आपने देखा ही नही वह आपको याद कैसे आता है ?" प्रश्न ठीक, पर उसका उत्तर मैं दे चुका हूँ कि यह एक कमाल है, सचमुच यह एक कमाल है, पर ऐसा कमाल नही कि समझ ही न आये। लीजिए, आप यह कहानी सुन भी लीजिए।

मेरे नगर मे एक ढाबा है। कभी-कभी मुझे भी वहाँ रोटी खाने के लिए जाना पड़ता है। पिछली लड़ाई के दिनों की बात है -- मौसम सर्दी का था। मैं एक दिन वहाँ तक गया, तो ढाबेवाले पण्डित जी परेशान थे और किसी को लगातार गालियाँ दे रहे थे। उनके हाव-भाव से मैं जान गया कि जिसे गालियाँ दे रहे हैं, वह इस समय उनके सामने नही है। मामले को समझने के खयाल से मैंने पूछा : "क्या बात है पण्डित जी, किस पर नाराज़ हो रहे हो ?" बोलें - "तीन-चार दिन हुए एक नौकर रखा था, आज चोरी करके भाग गया।" और फिर उसके नाम पर उन्होंने बहुत-सी गालियाँ दे डाली। मेरे साथ भी बहुत बार ऐसा हुआ है और मैं जानता हूँ कि लोग जिस थाली में खाते हैं उसी में छेद करते हैं।

मनुष्य का स्वभाव विश्वासी, वह विश्वास करता है और ठगा जाता है।

घटना को पूरी तरह जानने के लिए मैंने पूछा : "कहाँ हो गयी चोरी ?" जवाब मिला : "अजी, चोरी क्या हो गयी, कमाल हो गया। मैं सुबह शौच गया और कुएँ पर नहाया, बस इतनी देर में जाने कैसे बदमाश ने अलमारी खोल ली और चम्पत हुआ।" इतने में किसी ने पूछ लिया : "बिस्तर-विस्तर तो नहीं ले गया भाई ? आज-कल तो यह मामूली बात हो गयी है।"

जवाब मिला : "मैंने मुसरे को कपडे दिये ही कहाँ थे, जो ले जाता। एक बोरी दे रखी थी, उसपर पड रहता था और अपनी चादर ऊपर लपेट लेता था।"

जवाब सुनकर मुझे बिजली-सी छू गयी। मैंने अपने कपड़े गिने : बनियाइन, स्वेटर, गरम कुरता, बण्डी। मैं दिन में चार कपड़े पहने हुए था और वह लडका दिसम्बर की रात में एक चादर लपेटकर सो जाता था। उसे कैसी मीठी नींद आती होगी !!!

तभी आ गया पण्डित का लडका—वह पुलिस में रिपोर्ट लिखाने गया था। पण्डित जी ने उससे पूछा . "अरे भाई, अलमारी खोलकर देख तो, कितने रुपये की चपत लगी ?"

लड़के ने अलमारी खोली, हिसाब का परचा देखा और तब कहा : "बापू, इसमें छब्बीस रुपये थे अब पन्द्रह रुपये हैं। कम्बख्त ग्यारह रुपये ले गया।" यह सुना, तो एक नया सवाल खडा हो गया कि जब उस लडके ने अलमारी खोल ही ली, तो वह ग्यारह रुपये ही क्यों ले गया ? ये बाक़ी पन्द्रह रुपये लेने में उसे क्या दिक़्क़त थी ?

इससे एक दिन पहले ही मैं अपने पास रहते एक लडके के लिए ग्यारह रुपये में कण्ट्रोल का एक कम्बल खरीदकर लाया था। अचानक मेरे मन में आया कि क्या उस लडके ने कम्बल के लिए ही ग्यारह रुपये निकाले ?

मैं खाना खाकर कण्ट्रोल की दुकान पर गया, तो पता चला कि

आज एकदम सुबह फटे कपड़ों में एक लडका कम्बल खरीदकर ले गया है। मेरा अनुमान अब विश्वास में बदल गया और यह घटना मेरे लिए अब एक गरीब, अनपढ और असहाय भारतवासी के चरित्र का नमूना हो गयी।

अब जब भी कहीं किसी चोरी या चोर की चर्चा चल पडती है, मुझे उस लड़के का अनदेखा चेहरा याद आ जाता है और आप ही मेरा सिर उसके प्रति सम्मान से झुक जाता है। क्या आप इस चेहरे को कभी भूल सकेंगे?



ओह, याद ही न रहा !

मेरे एक मित्र हैं झिन्दल साहब। हाँ जी, साहब समझिए उन्हें ! अब अँगरेज तो चले गये हैं और हर भारतीय उनका उत्तराधिकारी—वारिस है, पर झिन्दल साहब उन दिनों भी अँगरेजों के गोद लिये बेटे थे, जब १५ अगस्त का स्वप्न कुछ पागलों को छोड़ किसी की भी आँख में न था !

"हूँ, हूँ, अँगरेजों ने अपने सम्पर्क से सचमुच एक ऐसा वर्ग बना लिया था, जो नाम-रूप में भारतीय होकर भी मानसिक दृष्टि से अँगरेज ही था और अँगरेज भी गुणों में नहीं, दुर्गुणों में और हमारी नजर से उसका सबसे बड़ा दुर्गुण यह कि अपने देश के हितों के विरुद्ध वह अँगरेजी राज्य का समर्थक, तो उन्हीं में से एक होंगे ये आपके मित्र झिन्दल साहब ?"

ओह हो, बड़ी खराब आदत है आपमें। मेरी बात पूरी हुई नहीं और जड़ दिया यह प्रश्न का लम्बा पुछल्ला। अरे साहब, बातचीत का क़ायदा यह है कि दो सुनले के बाद एक कहे, पर आपका क़ायदा शायद यह है कि आधी सुनें और ढाई कहें, तभी तो लोग-बाग आपसे बातें करते कतराते हैं, कन्नी काटते हैं और कहते हैं कि आपसे बात करना तो झाड़ी में उलझना है !

मेरे मित्र दुर्गुणों में नहीं, सद्‌गुणों में अँगरेजों के वारिस हैं। समय के पाबन्द, जीवन में व्यवस्था के पूरे हामी। आप उन्हें सात बजे सभा में बुलायें, तो पौने सात बजे अपनी मोटर में बैठे नजर आयेंगे और ड्राइवर मोटर को तेज हाँक दे और वह सभा के दरवाज पर दो मिनट कम सात बजे पहुँच जायें, तो मेरे मित्र दो मिनट तक मोटर में ही बैठे रहेंगे और ज्यों ही बड़ी सुई बारह को छूती-सी दिखाई देगी कि वे अपनी चादर

सँभालते हुए उतरेंगे और सभा-भवन में प्रवेश करेंगे। बहुत बार ऐसा होता है कि जब वे सभा-भवन में प्रवेश करते हैं, तो तब तक वहाँ उन्हें बुलानेवाले मन्त्री जी भी नही पहुँचे होते, पर उन्हें इससे कोई मतलब नहीं—वे कहते हैं कि निमन्त्रण के समय पर पहुँचना हरेक निमन्त्रित का कर्तव्य है। बुलानेवाले की जिम्मेदारी है कि वह समय से पहले पहुँचकर सभा की व्यवस्था करे, पर यदि दूसरे लोग अपनी जिम्मेदारी नही निभाते, तो मैं देर से पहुँचने की गैर-जिम्मेदारी क्यों करूँ? और अन्त मे वे अपनी सफेद चादर को चतुरता से सँभालते-सँवारते-से कहते हैं: अरे भाई, दूसरो को देखकर मै अपनी आदत खराब नही कर सकता!'

समझे आप, ऐसे हैं मेरे मित्र जिन्दल साहब, पर मेरी बात अभी पूरी नही हुई, आप सुनते रहिए। मुझे डर है कि आप फिर कही बीच में ही न टपक पड़ें। मै एक दिन उनके घर बैठा बच्चों से बातें कर रहा था कि वे कही से झपटे-सपटे-से आये। आदत है उनकी यह कि आयेंगे आँधी-से और जायेंगे हाथी-से। आये, तो श्यामा जी ने कहा: "आज शाम को छह बजे कही न जाइएगा।"

अपने गपोलू चेहरे पर लगी नन्ही मूछो तक मुसकराहट की रेख खीचते हुए-से बोले: "क्यो क्या बात है? सिनेमा चलने का प्रोग्राम मालूम होता है?"

अपने मुन्नू-मुन्नू की तरफ देखते हुए श्यामा जी ने कहा: "यहाँ तो चौबीस घण्टे अपना ही सिनेमा नही निमटता, दूसरा सिनेमा देखने कहाँ जायें?"

मैने बात को नया रंग देते हुए पूछा: "तो इस सिनेमा के डायरेक्टर आप ही मालूम होते है?"

बहुत गम्भीर-सा मुँह बनाकर बोले: "जी, पिछले पन्द्रह वर्षों में तो मै ही था, पर जिस दिन भारत की विधान-परिषद् ने यह पास किया कि नर-नारी के अधिकार समान होगे, श्रीमती जी ने झगड़कर अगले पन्द्रह वर्षों के लिए यह पद मुझसे ले लिया है!"

हम लोग हँस पड़े, तो मित्र ने अपनी पत्नी से पूछा : "अच्छा, तो शाम को घर से बाहर न निकलने की क़ैद लगायी गयी है ?"

"क़ैद क्या होती, आज शाम को आलू के पीठी के परांवठे बनाने का प्रोग्राम है। साथ में आलू-मटर की सब्जी, धनिये की चटनी, गाजर का अचार और बथुए का रायता रहेगा। गरम-गरम खाना। और क्या होता, यही बात है।"

मेरे मित्र ने तभी अपनी डायरी देखी और भड़भड़ाये-से एकदम बोले : "ना, ना, आज हम शाम को नहीं रह सकते। आज तो हमें सेठ जी के यहाँ दावत में जाना है।"

आलू के परांवठों का प्रोग्राम समाप्त हो गया और उसके साथ ही हमारी परांवठे खाने की उम्मीद भी खत्म हुई। हम अपने घर चले आये।

दूसरे दिन प्रातःकाल रामलीला कमेटी के चुनाव के सिलसिले में हम अपने मित्र के घर पहुँचे तो छूटते ही श्यामा जी बोलीं : "भाई साहब, कल तो गाड़ी छूट गयी और बाबू जी प्लेटफ़ॉर्म पर खड़े रह गये।"

क्या हुआ भाई, कौन-सी गाड़ी छूट गयी और कौन-से बाबू जी खड़े रह गये ? मैंने पूछा, तो हँसते-हँसते वे बोलीं : "हमारे बाबू जी मटर-गश्ती में कल सेठ साहब जी की दावत में जाना भूल गये। मुझे खयाल था कि वे नौ बजे लौटेंगे, मैं खाना-दाना कर, ताला लगा, एक विवाह में चली गयी। नौ बजे लौटी तो देखा, बाबू जी अपनी चादर सँवारे दरवाजे के सामने इधर से उधर और उधर से इधर ऐसे घूम रहे हैं जैसे जेल के बाहर सन्तरी घूमता रहता है। मालूम हुआ कि पेट में चूहे कूद रहे हैं। जल्दी-जल्दी चूल्हा जोड़ा और तब कहीं दस बजे जाकर आँतों को चार गस्से मिले।"

बातचीत खत्म हुई और हम दोनों उठ चले, पर हम दरवाजे के बाहर निकले ही थे कि क्या देखते हैं, सामने से अपनी नयी मोटर में बैठे सेठ जी चले आ रहे हैं। मेरे मित्र मोटर देखते ही सुन्न हो गये और

बोले : "लो अब आयी आफत, बेभाव के पड़ेंगे। सेठ जी ने मुझसे पूछ-कर दावत की तारीख रखी थी और वहाँ मुझे मान्य अतिथियों का परिचय नगर के मित्रों से कराना था — पता नहीं कल वहाँ कैसी भद्द हुई होगी ?"

मित्र की बात बीच में ही थी कि कार उनकी बग़ल में आ लगी और दरवाजा खोल सेठ जी नीचे उतरे। मेरे मित्र के काटो तो खून नहीं, पर संकट की पराकाष्ठा सूझ की जननी है। मेरे मित्र इन पलों मे मोरचे के लिए तैयार थे। सेठ जी की तरफ हाथ बढ़ाते हुए बोले : "आपकी उम्र बहुत होगी। मैं अब आपको टेलिफोन कर पूछने ही जा रहा था कि शाम की दावत के लिए किसी चीज की जरूरत हो, तो भेज दूँ ?"

सेठ जी ने विस्मय से पूछा : "कैसी शाम की दावत मियाँ ?"

मेरे मित्र भी विस्मय की मुद्रा में ही बोले . "आज शाम को आपके यहाँ दावत है न ! क्यों कैन्सिल हो गयी क्या, पर मुझे तो कोई सूचना नहीं मिली ?"

सेठ जी बोले : "जनाब, आपने पी तो नहीं ली; हमारे यहाँ तो दावत कल शाम थी। आपके न आने से सब चौपट हो गया। आप थे कहाँ ? हमने मोटर भेजी, तो घर में ताला लगा था। सारे सिनेमा हॉल छान मारे, पर कहीं पता नहीं। आखिर तुम जा कहाँ मरे थे।"

मेरे मित्र जैसे अचानक छत से गिर पड़े और एकदम से ऐसे बोले जैसे पैर के नीचे जला कोयला आ जाये—"ऐं ! कल थी आपके यहाँ दावत ?' फिर जरा सँभलते-से बोले : "नहीं-नहीं, दावत आज शाम को है, यह आपने खूब बनाया मुझे !"

सेठ जी अपने दिल की दुखन को गले में घोलते हुए-से बोले : "आप मजाक बताते हैं, सचमुच कल मैं बहुत परेशान हुआ !"

मेरे मित्र उस दुखन को अपने मे लेते हुए-से बोले : "तब तो सचमुच यह अजीब ग़लत-फहमी हुई।"

सेठ जी के दिलदिमाग़ पर मुहर-सी लगाते हुए मेरी तरफ़ देखकर मेरे मित्र बोले : "मैं अभी भाई साहब से कह रहा था कि रामलीला कमेटी के काम से आप मुझे जल्दी छुट्टी दे दीजिएगा। शाम को सेठ जी के यहाँ दावत है और मुझे तीन-चार घण्टे पहले पहुँचना है वहाँ!"

सेठ जी ने मेरी तरफ देखा। यह बिना कचौरियों के झूठी गवाही देना था। मुझे ज़ोर से हँसी आ गयी, पर मेरे मित्र ने ग़ज़ब का पैंतरा काटा। मेरे कन्धे पर हाथ मारकर बोले· "हाँ भाई साहब, हँसी की तो यह बात ही है कि मैं १० अप्रैल को ११ अप्रैल समझता रहा।"

मेरे मित्र ने अब ऐसा मुंह बनाया कि आज तक शायद ही किसी अभिनेत्री ने विधवा का अभिनय करते समय वैसा बनाया होगा। उस चेहरे से खिन्न होकर सेठ जी बोले : "अरे भाई, दु खी होने की इसमें क्या बात है? भूल-चूक तो आदमी के साथ ही लगी हुई है।"

मामला निमटा, सेठ जी मोटर मे चढे और हम आगे बढे। मेरे मित्र अब बहुत प्रसन्न थे और मैं उनकी प्रसन्नता का रस ले रहा था।

कुछ आगे बढे, तो मेरे मित्र बोले : "कहिए कैसी रही? आपने तो हँसकर चौका ही लगा दिया था, पर मैंने भी वो तरह दी कि गुड गोवर होने से बच गया या यों कहिए कि गोवर ही गुड हो गया!"

मैंने कहा : "गुड तो गोवर होने से वाक़ई बच गया, पर प्रश्न तो यह है कि इस सब मायाचारी की ज़रूरत ही क्या थी, आप साफ़ कह देते कि भाई, भूल गये हम, माफ कीजिए।"

मित्र बोले . "आप आज के समाज को नही जानते। सच बोलते ही उनका मुंह लटक जाता या भौंहें चढ जाती और उसका हमारे सम्बन्धो पर भी प्रभाव पडता। अब वे भी खुश है और हम भी खुश। सबकी खुशी का यह सीधा रास्ता छोडकर, मैं सबकी नाराज़ी का बीहड़ पथ क्यो चलूं?"

मैंने कहा : "आपकी बात में सचाई है, मानता हूं। फिर भी सत्य इतनी छोटी चीज़ नहीं है कि हम उसे इस-उसकी नाराज़गियो के मोल

बखेरते फिरें। मेरे सामने यह मसला बहुत बार आ चुका है। आप जानते हैं कि मैं बराबर बीमार रहा हूँ इधर, उससे मेरी स्मृति ज़रा कमजोर हो गयी है। अपनी कमी को देखते हुए मैंने तो एक नियम बना लिया है कि निमन्त्रण पर जाने की याद जहाँ भूली कि बस तुरन्त एक पत्र निमन्त्रण भेजनेवाले को खेंचा कि भाई भूल गये थे हम, क्षमा चाहते हैं और जो जगह कही आस-पास ही हुई, तो स्वयं आ धमके और कहा कि भाई, कल तो दिमाग धोखा दे गया और हम गधे के सींग की तरह नदारद रहे, पर अपना अधिकार हम नही छोड सकते; लाओ खिलाओ-पिलाओ कुछ बचा-खुचा। बस जम गये और खा-पीकर लौटे। हमारे प्रयोग मे डबल फायदा है। अपना यह कि भूली हुई दावत वसूल हुई और मित्र का यह कि वे खुश हो गये कि हमें उनके निमन्त्रण का मान है। अब बताइए कि आपका मन्त्र अमोघ है या हमारा नुसखा तीरे बहदफ?"

मित्र बोले : "आज आपने हमारा अघोर मन्त्र ही काट दिया और मुझे इससे खुशी हुई। आप जानते है कि मैं तो गुलामी के दिनों में भी सामाजिक नियमो की पूरी पाबन्दी का कायल रहा हूँ, फिर अब तो सौभाग्य से हमारा देश स्वतन्त्र प्रजातन्त्र है। प्रजातन्त्र की सफलता का सबसे बडा रहस्य ही यह है कि देश का हरेक आदमी अपने निजी लाभ के सामने समाज के लाभ की अधिक चिन्ता करे। समाज का लाभ इसमें है कि उसके जीवन में अधिक से अधिक सचाई हो और यह सचाई जेल के अनुशासन की तरह नही, आदत की तरह हमारे हर काम में छायी रहे। इसलिए मैं मानता हूँ कि मित्रो की बुराई लेकर भी हमें अपने जीवन में सत्य की प्रतिष्ठा करनी चाहिए।"

मैंने कहा : "आपके विचारो का मैं सम्मान करता हूँ और आपको धन्यवाद देता हूँ कि किसी का निमन्त्रण स्वीकार करके वहाँ जाना भूल जाना एक इतनी बडी कमजोरी है कि हम उसे सामाजिक अपराध कह सकते हैं। बात यह है कि किसी कमजोरी को कमजोरी मानकर उसको

जड़ से उखाड़ने के लिए कमर न कसना ज़िन्दगी की सबसे बड़ी कमज़ोरी है। इसलिए निमन्त्रण स्वीकार करके वहाँ ठीक समय पर जाना हम न भूलें, इसलिए भी कुछ उपाय हमें सोचने पड़ेंगे।"

मित्र बोले : "मालूम होता है आपने उन उपायों पर विचार किया है?"

मैंने कहा : "हाँ, विचार ही नहीं, प्रयोग भी किया है और उससे सफलता भी मिली है।

ये सात उपाय मेरे अनुभव में सर्वश्रेष्ठ हैं :

१. निमन्त्रण मिलते ही यदि वहाँ नहीं जाना है या जाने में सन्देह है, तो तुरन्त इनकारी का पत्र लिख दो।

२. यदि जाना है, तो घर के सब आदमियों से कह दो कि वे याद रखें, और समय पर याद दिला दें।

३. किसी अच्छी याददाश्त के मित्र से, जो वहाँ निमन्त्रित हों, कह दो कि वे आपको अपने साथ लेते जायें।

४. निमन्त्रण देनेवाले से कह दो कि वह आपको उस दिन फिर से याद दिला दे।

५. जहाँ बैठकर आप रोज़ काम करते हैं, वहाँ एक काग़ज़ पर लिख-कर ढंग से लगा दो, जिससे बार-बार याद आता रहे।

६ दावत के दिन जाने के समय का एलार्म लगाकर घड़ी को कहीं अपने निकट रख दो।

७. अपने जीवन के चालू व्यवहार में कोई ऐसा अस्वाभाविक काम कर दो कि वह बार-बार खटकता रहे। मसलन, कुरसी की जगह स्टूल पर बैठो, बूट की जगह खड़ाऊँ पहन लो, आज कोट न पहनो, चश्मा न लगाओ, अपने फ़ाउण्टेनपेन पर फूल बाँध दो, अपने दफ़्तर का ताला बन्द कर दो और बरामदे में बैठकर काम करो। ये चीज़ें बार-बार खटकेंगी और याद दिलायेंगी।

जब उन्हें इज़्ज़त मिली !

आपने कभी वंशलोचन देखा है ?

"वंशलोचन ?"

हाँ जी, वंशलोचन, जो गोविन्द अत्तार के यहाँ भी बिकता है और ज्योती अत्तार के यहाँ भी ।

"बिकता होगा, गोविन्द अत्तार के यहाँ भी और ज्योती अत्तार के यहाँ भी, मैं भला उसे क्यों देखता फिरता – क्या आपने मुझे कोई अत्तारों का इन्सपेक्टर समझ लिया है ?"

भाई साहब, इन्सपेक्टर अत्तारों का हो या आवारों का, आजकल खास चीज है – पर ख़ैर, छोड़िए इस बात को – बात के बढ़ाने में रखा ही क्या है, मैं तो सिर्फ़ आपसे यही पूछ रहा था कि आपने कभी वंश-लोचन देखा है ?

"यों ही पूछ रहे थे, तो पूछिए और मैं भी आपकी पूछ को लीजिए यों ही बूझ रहा हूँ कि हाँ साहब, मैंने देखा है वंशलोचन; सफ़ेद-सफ़ेद होता है।"

और सखिया भी देखा है कभी ?

"सखिया ? क्या पूछ रहे हैं आप—सखिया, जिसे खाकर पिछले साल जग्गू और विशम्भर दोनों ऐसे सो गये कि फिर दूसरों के कन्धे ही उठे। वही सखिया या कुछ और ?"

जी हाँ, वही सखिया, जिसे खाकर जग्गू और विशम्भर ही नहीं, चाहें तो आप भी इस तरह सो सकते हैं कि दूसरों के कन्धे तो उठें ही, अफ़सोस के मारे भी उठें ?

"मालूम होता है आज आपने हमारी श्रीमती जी से मोरचा बाँधने का फैसला कर लिया है। मियाँ, उन्हें ऐसी-वैसी मत समझना। संखिये का नाम भी सुन लेंगी, तो जान को आ जायेंगी ?"

खैर, भाभी-देवर की लड़ाई का मोरचा तो हमेशा ही ज़िन्दगी की एक दिलचस्प नियामत है, हम उससे डरते नहीं, पर आप पहले यह बताइए कि आपने कभी संखिया देखा है ?

"हाँ देखा है, संखिया सफेद-सफेद होता है, पर आप किसी जाँच कमेटी के मेम्बर तो नहीं हो गये, जो यह सब जाँच-पड़ताल किये जा रहे हैं ?"

अरे भाई, हम किस कमेटी के मेम्बर होते। बात यह हुई कि हम आज एक मजिस्ट्रेट के यहाँ बैठे थे। उनकी अदालत में एक मुकदमा चल रहा है कि एक साहब ने संखिया खा लिया, पर मरे नहीं, बच गये और अब पुलिस ने आत्म-हत्या का प्रयत्न करने के अपराध में उनका चालान कर दिया है। अब वे महाशय कहते हैं कि मैंने वंशलोचन के भुलावे में संखिया खा लिया था।

"हाँ, वंशलोचन और संखिये का रूप बहुत कुछ मिलता-जुलता है और यह भूल आदमी कर सकता है, इसमें सन्देह नहीं, पर भाई साहब, यह भी अजीब है कि आत्म-हत्या का अपराध आदमी करे और सफल हो जाये, तो न गिरफ्तारी होती है, न चालान, न मुकदमा, पर आदमी चूक जाये, तो जेल का दरवाजा उसके लिए इस तरह खुल जाता है, जैसे नाकू का मुँह।"

तो, यह एक और अजीब बात हुई कि आप इस वंशलोचन और संखिये की बात में से कानून-शास्त्र की एक पहेली निकाल बैठे। आप भी खूब आदमी हैं, भाई साहब !

"जी हाँ, मैं खूब आदमी हूँ भाई साहब, कि वंशलोचन और संखिये की बात में से कानून-शास्त्र की एक पहेली निकाल बैठा, पर आप तो खूब आदमी नहीं हैं, तो फरमाइए आप इस वंशलोचन और संखिये की

बात में से कौन-सा बलर-बट्टू निकाल रहे थे ?"

माफ़ कीजिए, सवाल आपका बहुत मुनासिब है। मैं सचमुच वंश-लोचन और संखिये की बात में से जीवन-शास्त्र का एक प्रश्न सोच रहा था।

"वाह, क्या कहने, कहाँ वंशलोचन और संखिया और कहाँ जीवन-शास्त्र! मान गये साहब, आज से हम आपको फ़िलासफ़र। सचाई यह है कि सुल्हड मिश्र आख़िर आपके ही वंश में तो पैदा हुए थे, जो उपला लेकर आग लेने चले और अपने विचारों में उलझे पहुँच गये आठ कोस दूर एक क़स्बे में।

अच्छा, तो अब यह बताइए कि जीवन-शास्त्र की वह कौन-सी बात है, जिसे आप सोच रहे थे। ज़रा हम भी तो आपकी फ़िलासफ़ी सुन लें।"

वंशलोचन और संखिये की बात सुनकर मैं यही सोच रहा था कि संसार में वे अकेले ही महाशय नहीं हैं, जो वंशलोचन को संखिया समझ खा गये, बल्कि हममें ज़्यादातर आदमी ऐसे हैं, जो वंशलोचन को संखिया समझ रात-दिन खाया करते हैं।

"ज़रा खोलकर समझाइए, तो समझें हम आपकी बात। यों तो हमारे पल्ले कुछ पड़ने से रहा, क्योंकि आख़िर आप हैं फ़िलासफ़र और हम भाई जी, एक मामूली आदमी।"

समझने को इसमें क्या बात है, लीजिए कुछ नमूने खुद ही देख लीजिए। हमारे पड़ोसी श्रीपाल सिंह को तो आप जानते ही हैं। जी हाँ, वे ही जो अभी सर्दियों में स्पेशल आनरेरी मजिस्ट्रेट बनाये गये थे। बेचारे वंशलोचन समझकर संखिया खा गये और वह संखिया अब उनकी आँतों का गोरखधन्धा बना रहा है।

"क्या कहा आपने कि बाबू श्रीपाल सिंह भी वंशलोचन की जगह संखिया खा गये और अब वह उनकी आँतों का गोरखधन्धा बना रहा है?

"यह क्या कह रहे हैं आप, अभी कल तो वे हमें क्लब में मिले हा

थे। वही हट्टे-कट्टे, हँसमुख और ताजे-तर। आप कब की बात कह रहे हैं। यह संखिया खाने की ?"

भाई साहब, आपके दिमाग में उठती है — कानूनी पहेलियाँ और हमारे दिमाग में जीवन के प्रश्न। कानून है शब्दों की बहस और जीवन है भावनाओ का उपवन। इसलिए आप संखिये और बंशलोचन में देखते हैं संखिया और वंशलोचन और मैं देखता हूँ उनका तत्त्वज्ञान !

"ओहो मेरे शेर ! यह तो बहुत दूर की उडान ली आपने। अरे भाई, मुझे भला क्या मालूम कि आप वंशलोचन और संखिये का भी तत्त्वज्ञान बना बैठे हैं। यों समझिए कि अब तो आपकी खोपडी आचार्य जगदीश चन्द्र की रसायनशाला हो गयी।

अच्छा जी, तो अब हमें भी वंशलोचन का वह तत्त्वज्ञान दिखाइए जरा।"

तत्त्वज्ञान क्या था इसमें। वंशलोचन है एक उपयोगी और लाभदायक चीज़ और संखिया है एक मारक विष, पर दोनो का बाहरी रूप-रंग एक है। इसी तरह की दुनिया में और बहुत-सी चीजें हैं, जो गुणो मे भिन्न होकर भी बाहरी रूप में एक है।

अब यदि कोई भोला या भोंदू मनुष्य किसी उपयोगी चीज की जगह कोई हानिकारक चीज खा ले या उपयोग कर ले, तो उसे मुहाविरे में कहा जायेगा कि भाई, यह तो संखिये का वंशलोचन बना रहा है। हमारे पडोसी श्रीपाल सिंह ने भी यही संखिये का वंशलोचन बना दिया है स्पेशल मजिस्ट्रेट बनकर।

"कानूनी कहिए या जीव-शास्त्र की कहिए, है आपकी यह बात एक पहेली ही, इसलिए अच्छा हो कि आप ही इसे बूझ भी दें।"

पहेली-वहेली कुछ नही भाई साहब, बात सीधी है कि दुनिया की हर चमकदार चीज हीरा नही है और जीवन मे क्या शाप है और क्या वरदान, यह जानना बडे-बडे विद्वानो के लिए भी सुगम नही है। भाई श्रीपाल सिंह भी इसी चक्कर पर चढ गये हैं। रात-दिन मारे-मारे फिरे,

जिनका मुँह नहीं देखना था उनके पाँव देखे, जिनकी नमस्ते नहीं की जा सकती, उनके सामने सिर झुकाया, पिछले बीस साल देश का काम करते-करते जिनसे जान-पहचान और दोस्ती हो गयी थी, उनकी चौखटें चाटी और तब कहीं स्पेशल मजिस्ट्रेट हुए, पर हुआ क्या; यही कि वंश-लोचन का संखिया बन गया।

"वाह, वंशलोचन का संखिया कैसे बन गया। चार आदमियों में सिर ऊँचा हुआ, समाज में पोजीशन निखरी, बड़े आदमियों में गिनती होने लगी। इससे पहले बेचारे थे ही क्या? बाप-दादों के छोड़े चार मकानों का किराया आता है। सुबह चुपड़ी, तो शाम को रूखी खा लाते थे – अब शहर में वे ही वे हैं।

अभी पाँच-छह दिन हुए राज्य के बड़े मिनिस्टर साहब की पार्टी थी उनके यहाँ। देखा नहीं मिनिस्टर साहब से इस तरह बातें करते थे, जैसे इनके कोई निजी रिश्तेदार हों। कलक्टर और कप्तान साहब भी पार्टी में आये थे, पर श्रीपाल सिंह से इस तरह बात करते थे, जैसे वे ही मिनिस्टर हों और आपको वंशलोचन का संखिया ही घुटता दिखाई दे रहा है?"

जी हाँ, यही तो कह रहा हूँ मैं कि आपको मिनिस्टर साहब की पार्टी का वंशलोचन ही दीख रहा है, पर मुझे दीखता है उनकी पत्नी के आँसुओं का संखिया!

"उनकी पत्नी के आँसुओं का संखिया! कैसे आँसू उनकी पत्नी के? आखिर वह रोयी क्यों? जी?"

जी हाँ, उनकी पत्नी के आँसू। वह रात हमारे घर आयी थी और कह रही थी कि इस मजिस्ट्रेटी ने भैया, हमारा तो नाश कर दिया। पहले सादगी से सब काम हो जाता था, अब हरेक बात में साहबी आ गयी है। पहले चार घड़ी बाजार में बैठते थे और फ़सल पर कभी शक्कर तो कभी तेल, कभी उड़द तो कभी खाँड भर लेते थे और इस तरह दस रुपये मिल जाते थे, पर अब वही किराये के रुपये – उन्हें ओढ लो या बिछा लो। अभी परसों मिनिस्टर साहब की पार्टी थी, मेरा जेवर गिरवी

रखकर रुपये लाये, तो काम चला। कल कह रहे थे : दो मकान बेचकर एक मोटर लूँगा। सबके पास मोटरें हैं, तांगे में जाते शरम लगती है। मैंने कह दिया, मोटर में बैठे हवा ही खाया करना, चूल्हा तो बस निर्जल एकादशी ही रखेगा फिर, तो झल्ला पड़े। वे समझते हैं मैं उनकी इज्जत देखकर जलती हूँ, पर भैया, इज्जत, कीर्ति, यश और नाम तो पेट भरे पर ही भले लगते हैं।

अब कहिए, भाई श्रीपाल सिंह की मजिस्ट्रेटी ने वंशलोचन का संखिया कर दिया या नहीं ?

और आप तो गये थे उनकी पार्टी में ? वहाँ आपने जंगबहादुर की कविता भी सुनी होगी। उनकी कविता भी वंशलोचन का संखिया है।

"उनकी कविता भी वंशलोचन का संखिया है ? वाह साहब वाह, आज तो आपने नया संखिया-शास्त्र ही रच मारा ! जी, तो किस तरह ?"

नया संखिया-शास्त्र इसमें कुछ नहीं। बात यह हुई कि जंगबहादुर पहले बहुत सुन्दर कविताएँ लिखा करते थे और हिन्दी के श्रेष्ठ पत्रों में उन्हें स्थान मिला करता था, पर एक कवि-सम्मेलन में गये, तो उन्होंने देखा कि वहाँ गीत से अधिक संगीत का जोर है। उन्होंने भी गाकर कुछ पढ़ा, तो वाहवाही भी मिली और चाँदी के इक्यावन सिक्के भी। अब कवि-सम्मेलन ही उनकी दुनिया है। अपने पुराने गीत अलापा करते हैं और तालियाँ सुना करते हैं। एक दिन शान से कह रहे थे, कलकत्ता परिषद् में गया था भाई साहब, प्रसिद्ध वक्ता देवेन्द्र जी को एक सौ इक्यावन रुपये दिये गये और मुझे दो सौ एक रुपये। गया तो मैं थर्ड में ही था, पर सेकेण्ड का किराया मिला और कुछ न पूछिए वहाँ कवि सिन्धु जी भी आये थे, पर कॉलिज के लड़कों ने उन्हें 'हूट डाउन' कर दिया और मेरे गीत बार-बार सुने।

कहिए, कवि-सम्मेलन की यह कीर्ति शाप हुई या वरदान ? और फिर वही बात वंशलोचन का संखिया बन गया या नहीं ?

और भाई, क्या श्रीपाल और क्या बेचारे जंगबहादुर, यह तो वह

चौराहा है, जिस पर अमरीका के प्रेसीडेण्ट श्री विल्सन जी की चौकड़ी भूल गयी। पहले महायुद्ध के अन्त में वे विश्व-शान्ति का मिशन लेकर निकले और अपनी शर्तों के साथ इंगलैण्ड आये। यहाँ उनका वो स्वागत हुआ, वो धूमे मची कि बस बेचारो का मिशन एक गैस का गुब्बारा रह गया, जिसमे से निकला लोग ऑव नेशन्स, जिसने सच पूछो, तो दूसरे महायुद्ध की नीव ही रखी।

वहाँ के एक दैनिक ने विल्सन की विदाई पर जो अग्रलेख लिखा, उसका शीर्षक था "ही केम, ही सा एण्ड ही वाज कोकर्ड!" वाह भाई पत्रकार – 'वह आया, उसने देखा और बस हमने उसे जीत लिया।'

तो यह स्वागत-सम्मान शाप हुआ या वरदान? अरे भाई, कह तो दिया यह सब वंशलोचन का संखिया बनाना है।

संखिया, संखिया, संखिया, बार-बार वही संखिया! जानता हूँ शब्द कड़वा है और हर बार अपने साथ मौत का सन्देश लाता है, इसलिए कानो को कुछ अच्छा नही लगता, क्योकि रंग-रूप की एकता में उलझकर साँप को हार माननेवालो की जो गत बनती है, वह इस शब्द को बार-बार दोहराकर भी मैं पूरी तरह कह नही पाता।

संखिया हो या साँप, वे आदमी को एक बार में मार डालते हैं, पर कीर्ति के कोल्हू मे आदमी इस तरह पिसता है कि न जिये जीता है, न मरे मरता है।

"अरे भाई, कीर्ति के लिए दुनिया के लोग जान दे रहे है और तुम उससे ऐसे भर्राये जा रहे हो कि जैसे वह कोई भूत हो। क्या बात है आखिर, कुछ हमें भी तो पता लगे?"

पता? पता इसमें क्या लगेगा तुम्हें या मुझे? कीर्ति का मतलब है दूसरों की राय और जिसकी चाल दूसरों की राय पर निर्भर, जिसकी पसन्दगी और नापसन्दगी दूसरों को आँख के सहारे, भला वह भी कोई आदमी है? सच यह है कि आदमी कीर्ति के शिखर पर चढा कि फिर उसकी जिन्दगी अपनी जिन्दगी ही नही रहती।

अभी उस दिन मिले थे बाबू सी आर शुक्ला। बड़े परेशान थे बेचारे। कह रहे थे साथियों ने अच्छा हमें नामजद मेम्बर बनवाया, हमारी जिन्दगी ही तलख हो गयी। न लिखने का समय रहा, न पढ़ने का, जैसे एकान्त अब हमारे लिए कोई जरूरी चीज ही नहीं रही। जब देखिए, कोई न कोई आया रहता है और जो आता है यह समझकर आता है कि मुझे जीवन में अब अपना कोई काम ही बाक़ी नहीं रहा।

एक मित्र की सलाह से हमने बैठक के बाहर बोर्ड लगा दिया कि मिलने का समय तीन बजे से पाँच बजे तक है। बस फिर क्या था, सब जगह चर्चा हुई कि हमारा दिमाग बहुत भारी हो गया है।

उस दिन रास्ते में रायबहादुर साहब मिल गये, बुजुर्ग आदमी है। मैंने नमस्कार किया, तो बोले : "भाई, अब तो हम ही तुम्हारे आगे हाथ जोड़ेंगे — आखिर बड़े आदमी हो गये भैया! टाइम पर मिलते हो, टाइम पर खाते-पीते हो और क्यों न हो आखिर अँगरेज अपना राज तुम्हें ही तो सौंप गये है।"

बताइए, मैं क्या करता? साइनबोर्ड उतारकर भीतर रख दिया है और मान लिया है कि मेरा घर अब घर नहीं, चौपाल है, जिस पर मेरा ही नहीं, दूसरों का भी उतना ही अधिकार है।

हमने उनसे कहा : भाई साहब, अभी तो साइनबोर्ड ही उतारा है, अभी क्या। अभी तो घर में आग देने के लिए भी तैयार रहिए।

बोले : "यह क्या कह रहे हो?"

मैंने उन्हें 'शेरो-शाइरी' से उस्ताद नासिख का किस्सा सुनाया। उर्दू के प्रसिद्ध कवि नासिख एक दिन बाग के एकान्त बँगले में बैठे एक कविता की तैयारी में थे। एक सज्जन वहीं आ पहुँचे। कवि को परेशानी हुई, मूड बिगड़ने का खतरा हुआ, तो उठकर टहलने लगे कि यह भलामानुष समझ जाये और उठे, पर यह जमे तो बस जमे। वे फिर किसी बहाने से उठकर गये, पर ये तो जमकर बैठे थे, बैठे रहे।

उस्ताद नासिख ने चुपके से चिलम की आग बँगले की टट्टी में रख

दी और आप लिखने लगे। आग लगी, तो वे साहब घबराकर उठे, पर कवि जी ने उनका हाथ पकड़ लिया और बोले : "कविता आग में मिल गयी, दिल जलकर राख हो गया। अब तो तुम्हारे और मेरे ही जलने का नम्बर है। अब क्या मैं तुम्हें जाने दूँगा।"

संस्मरण सुनकर गुप्त जी हँस पड़े, तो हमने उन्हें उस्ताद नासिख का दूसरा संस्मरण सुनाया। किसी दिन वे लिखने को बैठे थे कि कोई आ जमे। जब शराफ़त के इशारे बेकार हो गये, तो उस्ताद ने नौकर से अपना सन्दूकचा मँगाया। उसमें से अपने मकान की मिल्कियत का कागज निकाला और उनके सामने रखकर नौकर से बोले : "भाई मजदूरों को बुलाओ और घर का असबाब उठाकर ले चलो।'

नौकर चकित, तो वे सज्जन अवाक्! तभी उस्ताद ने कहा : "देखते क्या हो? मकान पर तो इन्होंने कब्ज़ा कर ही लिया है, ऐसा न हो कि असबाब भी हाथ से जाता रहे।"

क्या इन संस्मरणों की साक्षी नहीं है कि कीर्ति है एक वरदान, जब तक वह सीमा में रहे और कीर्ति है एक शाप, जब वह उचककर किसी के कन्धों पर आ बैठे!



कृपया अपने से पूछिए

महाभारत का युद्ध बहुत-सा बीत चुका था, पर अभी चल रहा था। पाँसा निश्चित रूप से पाण्डवों के पक्ष में था, कौरवों के बड़े-बड़े महारथी काम आ चुके थे और पाण्डवो का झण्डा कौरवों की छावनी पर फहराने-वाला ही था।

युद्ध की भूमि से दूर बैठे संजय अपने योगबल से अन्धे महाराजा धृतराष्ट्र को युद्ध का हाल बता रहे थे। तभी धृतराष्ट्र ने संजय से पूछा : "क्या अब भी हमारी जीत हो सकती है संजय ?"

बड़ी नाजुक परिस्थिति है। अन्धा राजा कुटुम्ब की लड़ाई से व्यथित, फिर उसका परिवार पराजय की ओर और सर्वनाश की घड़ियाँ सामने, जिसमें राज्य भी नष्ट और पुत्र-पौत्र भी भस्म और यों आज का राजा कल का भिखारी। पशु भी इस दशा में करुणा से लथपथ हो उठे, फिर सहृदय संजय क्या उत्तर दें ? गप्प तो वे मार हो नही सकते !

चतुरता और मधुरता को मिलाकर वे कहते हैं :

> "आशा बलवती राजन् शल्यो जेष्यति पाण्डवान् ।
> हते भीष्मे हते द्रोणे कर्णे च विनिपातिते ॥"

राजन्, आशा बड़ी बलवती है कि कहती है : शल्य ही पाण्डवों को जीत लेगा; हालाँकि महाबली भीष्म मर चुका है, गुरु द्रोणाचार्य भी नहीं रहे और कर्ण भी गिरा दिया गया !

परिस्थितियों को देखकर उत्तर की अद्भुतता का हम अनुमान कर सकते हैं। संजय ने झूठ नही कहा और राजा को एक क्रूर धक्के से भी बचाया।

सत्य सत्य है, सत्य ही ईश्वर है, पर कोरा सत्य बहुत पैना होता है, इसलिए उसपर मिठास की पॉलिश का विधान नीति ने किया है।

"सत्यं ब्रूयात् प्रिय ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।"

सत्य कहिए, पर प्रिय सत्य कहिए, अप्रिय सत्य, ना, ना, मत कहिए।

यहीं पर यह प्रश्न : सत्य ईश्वर है, तो हम उसके साथ यह सौदा, यह मेल-मिलाव क्यों करें ?

"अप्रियस्य च पथ्यस्य श्रोता वक्ता सुदुर्लभः ॥"

यह मेल-मिलाव हम इसलिए करें कि अप्रिय सत्य कितना भी हितकारक हो, उसका सुननेवाला और कहनेवाला, दोनों ही अत्यन्त दुर्लभ हैं।

यहाँ मनोविज्ञान की शरण लेनी पड़ेगी, नहीं तो एक क्यों खड़ी रह जायेगी ?

अप्रिय सत्य का श्रोता अत्यन्त दुर्लभ है, क्यों ? यात्री चला जा रहा है, उसके कन्धे का अँगोछा गिर गया है पर उसे पता नहीं, वह चला जा रहा है। मैंने देखकर उसे पुकारा : अबे, किस पिनक में है कि अँगोछा गिर गया, पर नवाब को पता ही नहीं; चले जा रहे हैं, ऊँट की तरह गरदन उठाये !

यात्री अँगोछा उठाकर चल पड़ता है, पर धन्यवाद नहीं देता, क्योंकि उसका मन सूचना की कृतज्ञता से नहीं, पिनक, नवाब और ऊँट की तेजी से भर रहा है।

लड़का पढ़ता ही नहीं, माँ ने उसे पास बुलाया कि दो चपत जड़े, पर तभी पड़ोसी ने कहा : "अरे, पढ़ता नहीं, तो क्या भीख माँगकर खायेगा ? जैसा बाप आवारा है, वैसा ही बेटा उठेगा, और क्या !"

माँ कठोर होकर पड़ोसी को देखती है और पुत्र को पीटने के बदले, गोद में चिमटाकर पड़ोसी से कहती है "भीख माँगेगा या राज्य करेगा, तुम्हें क्या ? जब यह तुम्हारे दरवाजे आये, तो जाओ किवाड़ बन्द कर लेना !"

माँ अचानक यह बदल क्यो गयी ? पडोसी ने बात तो सच्ची कही थी, हित की कही थी।

वही बात है, जो नीतिकार ने कही थी कि अप्रिय सत्य का श्रोता दुर्लभ है, क्योंकि सत्य की अप्रियता श्रोता के मन की उस कोमल वृत्ति को कुण्ठित कर देती है, जो सत्य को ग्रहण करती, पचाती है। सत्य कहो, पर इस तरह कि वह लिया जा सके, पचाया जा सके, इसलिए उसे प्रिय रूप में मधुर बनाकर कहो।

"और क्यों जी, अप्रिय सत्य का कहनेवाला अत्यन्त दुर्लभ क्यो है ?"

सच है कि यह प्रश्न पहले से ज्यादा गहरा है। कहनेवाला जब सत्य को अप्रिय रूप में कहता है, तो उसके स्वर मे एक कडवाहट वाणी तक ही नहीं रुकती, भीतर मन को भी स्पर्श करती है और जिस कहनेवाले का मन कडवा है, वहाँ हित-चिन्ता दुर्भावना हो जाती है, क्योंकि दुर्भावना का मूल पिता है क्रोध, तो यह बात हरेक के बस की नही कि कडवी बात कहे और क्रोध से अछूता रहे, इसीलिए अन्तर्द्रष्टा कवि ने कहा कि अप्रिय और हितकारक सत्य का वक्ता और श्रोता दोनो अत्यन्त दुर्लभ हैं।

सिद्धान्त यह बना कि सच कहो, पर मीठे होकर, झूठ न बोलो, पर कडवाहट से दूर रहो।

कृपा कर अपने से पूछिए कि किसी की भूल आप सुधार रहे हो या उसे नया परामर्श दे रहे हों, आपका मन, आपकी वाणी और आपका लहजा कडवा तो नही होता ?



यह कोई अद्भुत अनुभव नही है कि हम अपने ही घर या किसी दूसरे के मेहमान हों तब बाल बाहने के लिए कघा उठायें और पायें कि कघा किसी के बालों से भरा है—साफ है कि जो सज्जन पहले बाल बाह गये हैं, वे उसे साफ़ करके नही रख गये।

यह कोई खास बात है, यह कभी मुझे नही लगा था, पर उस दिन

जब मैं एक आत्मीय के घर में मेहमान था, तो यों ही यह बात मेरे लिए खास बात हो गयी।

मैं गैलरी में बैठा उनसे बात कर रहा था। मेरी कुरसी कुछ इस तरह थी कि वहाँ से पास के कमरे की शृंगार-मेज साफ दिखाई देती थी। सबसे पहले एक सात वर्ष की लडकी बाल बाहने आयी। उसने कंघा उठाया, तो बालों से भरा। कंघा साफ कर उसने बाल ठीक किये और बिना कंघा ठीक किये वह चली गयी। तब आयी उसकी माता जी, तब आयी बडी बहन, तब भाभी, दूसरी भाभी, और फिर बडी बहन, पर हाल सबका वही कि आये, कंघा उठाया, साफ किया, बाल बाहे और ज्यों का त्यों कंघा छोडकर चल दिये।

मैं बहुत ग़ौर से यह सब देखता रहा। शाम को जब सब लोग बाहर लॉन पर बैठे, तो मैंने पूछा : क्यों जी, अगर ऐसा कानून बन जाये कि हरेक आदमी को एक कमरा जरूर साफ़ करना पडेगा, तो आप लोग अपना-अपना कमरा साफ किया करेंगे या एक-दूसरे का ?

सबका एक ही उत्तर था : अपना, पर वे आश्चर्य में थे कि यह क्या प्रश्न यहाँ उठ गया। तब मैंने नया प्रश्न पूछा : क्यों जी, झाडू लगाने के सम्बन्ध में यदि अपने-अपने कमरे का नियम ठीक है, तो कंघे के बारे में आप लोग इसी नियम का पालन क्यों नहीं करते कि हरेक अपना कंघा साफ़ करे ?

अब वे सब हँस पडे, पर हँसी का अर्थ टालना नहीं था। दूसरे दिन से मैंने देखा हरेक ने अपना कंघा साफ़ किया। बात भी ठीक है कि कंघा तो साफ करना ही है। बस फ़र्क़ इतना है कि पहले करें या बाद में और अपना मैल साफ करें या दूसरे का। एकदम साफ़ है कि हरेक अपना कंघा खुद साफ़ करे, क्योंकि उसे दूसरे पर छोडने का अर्थ ही है : दूसरे का मैल साफ़ करने को तैयार होना।

कृपया अपने से पूछिए कि आप अपना मैल साफ़ करते हैं या दूसरे का ?



उन्हें खाने का बहुत शौक था। वे मेरे पड़ोस में ही रहते थे। मैं देखता कि वे अकसर अपनी पत्नी को चौके से उठा देते और खुद सब्जियाँ बनाते। सचमुच उनकी सब्जियाँ बहुत स्वादु होती और जो कोई खाता, उँगलियाँ चाटता रह जाता।

उनकी पत्नी मर गयी और लड़के की बहू आयी। बहू भी खाना बनाने में मास्टर थी। वे उसके भोजन की सबसे प्रशंसा करते। आदमी मशीन नहीं है कि बराबर एक-सा रहे। कभी-कभी ऐसा भी होता कि बहू का खाना उन्हें पसन्द न आता। जिस दिन ऐसा होता, वे बहू के मुँह पर उसकी बहुत तारीफ करते और मिठाई खाने के लिए एक रुपया बहू को देकर बिना उसके भोजन की निन्दा किये, कहते : बेटा, नमक-मिर्च-मसाला ही सब्जी की जान नहीं है; ठीक छौंक, ठीक आँच, बस आग में बाग लग जाता है।

एक भाई हमारे पड़ोस में रहते हैं और एक बाहर अपनी नौकरी पर। वे एक बार अपने भाई से मिलने को आये, तो सब्जियों में नमक ज्यादा था। वे चुप रहे। कुछ दिन बाद फिर आये। समय की बात, नमक उस दिन भी ज्यादा। भाई की बहू से बोले : अरे भई, तुमने न दाल में नमक डाला और न सब्ज़ी में। ख़ैर, मैंने तो खा लिया, पर औरों के लिए तो डाल दो। बहू ने दोनों में फिर से पूरा नमक डाल दिया। अब सब्ज़ी गिलोय और दाल चिरायता!

एक और पड़ोसी हैं हमारे। बाप का कमाया धन बैंकों में है। मज़े से गुज़र रही है। करते कुछ नहीं, चरते बहुत हैं। उन दिन खाना खाने बैठे, तो सब्ज़ी में नमक कम और दाल में ज्यादा। अँगूठा और एक उँगली से थाल का किनारा साधकर एक झटका और बस थाल, कटोरियाँ और चम्मच, छनछनू के साथ रसोई के फ़र्श पर। रसोई का वातावरण अब

ऐसा कि जैसे अचानक दो रेलगाड़ियाँ लड़ गयी हों !

ये हैं हमारे तीन पड़ोसी और उनके तीन ही तरह के तक़ाज़े। तक़ाज़े, यानी तक़ाज़ा करने के, अपनी बात कहने के तरीक़े। हमारा खयाल है कि आप पहले को नं एक, दूसरे को नं दो और तीसरे को नं तीन मानेंगे, पर कृपया अपने से पूछिए कि जब आपके घर में कोई बात आपके मनमाफ़िक़ नहीं होती, तो आप कौन-सा तरीक़ा काम में लाते हैं ?



लाला श्यामसुन्दर लाल खाते-पीते आदमी हैं। कमाना जानते हैं, तो खर्चना भी। दफ़्तर में हमेशा शानदार मेज़ रहती है, जो हर साल रँगी जाती है। कमरे में क़लई साल में दो बार कराते हैं और दीवारों में तसवीरें भी जड़ी रहती हैं।

पर उनका क़लमदान कभी साफ़ नहीं रहता। कभी उसमें स्याही नहीं होती, तो कभी पानी नहीं और इसीलिए मैं कहा करता हूँ कि श्यामसुन्दर लाल दरिद्री हैं।

भाई हफ़ीज़ सुबह उठकर चाय मिले या न मिले, पर हजामत जरूर बनाते हैं। शौक़ीन आदमी हैं, लाख काम हो, दिन में दो बार कपड़े बदलते हैं और इत्र के बारे में उनका ज्ञान एक रिसर्च स्कॉलर का है कि किस ऋतु में कौन-सा इत्र लगाना ठीक है।

पर उनके नाक के बाल और उँगलियों के नाखून हमेशा बढ़े रहते हैं। कभी वे उन बालों को चूँटते होते हैं, तो कभी उन नाखूनों को दाँत से काटते रहते हैं और इसीलिए मैं कहा करता हूँ कि भाई हफ़ीज़ दरिद्री हैं।

सरदार ज्ञानसिंह बड़े लायक़ आदमी हैं। एक बड़े कारखाने के

मालिक हैं और उसका ऐसा प्रबन्ध करते हैं कि हर साल का मुनाफा पहले साल से कुछ ज्यादा ही होता है। खास बात यह है कि अपने साथियों और मातहतों में उदार प्रसिद्ध हैं। उनका व्यवहार सभी के साथ साफ-स्वच्छ है।

पर वे लेटने को अपने पलंग पर जायें या सोने को, नीचे रखे पा-पोश पर पैर नही पोंछते और इसीलिए मैं कहा करता हूँ कि ज्ञानसिंह जी दरिद्री हैं।

दरिद्रता एक भावना है और वह बाहर की समृद्धि होते भी हममें रह सकती है।

श्यामा घर के फर्श को मांजकर धोती है, पर छत मे जाले नही देखती और बलदेव सिंह जब पान खाते हैं होठों से बाहर आध-आध इंच गाल भी लाल किये रहते हैं। रामचन्द्र जी जहाँ देखते हैं, पान की पीक थूक देते है और रहीम दोस्तों की चिट्ठियों का जवाब नही दे पाते। मैं इन सबको दरिद्री कहता हूँ, क्योंकि ये लोग एक बात को ठीक समझते हैं, पर करते नही।

कृपया अपने से पूछिए कि आप भी तो कही दरिद्री नही है ?



कही बाहर से या अपने ही चौक से आकर जब मैं अपने पलंग पर बैठता हूँ, तो जूता नीचे निकाल देता हूँ, जैसा कि सभी करते है। इस बारे में भी किसी सोच-विचार की जरूरत है, यह कोई नही मानता, जैसा कि मैं भी नही मानता था, पर अभी कुछ दिन हुए मेरे मन मे यह सोच-विचार उठा और मुझे लगा कि यह जीवन का एक जरूरी प्रश्न है।

हम बाहर से पलंग के पास आते हैं, तो जूते का – चप्पल का मुँह पलंग की ओर होता है, पर इस हालत में जब हम फिर से बाहर जाने के लिए जूते में पैर डालते है तो हमारे पैर और जूते का मुँह अलग-अलग

दिशाओं में होता है और हमें पहले जूता सीधा करना पड़ता है, तब हम उसे पहन पाते हैं। तो फिर क्या किया जाये ?

चप्पल-जूता निकालने का सही रुख यह है कि हम बाहर से आकर पलंग पर नीचे पैर लटकाये हुए बैठ जायें और तब जूता निकालें। इससे जूतों का मुँह बाहर की तरफ रहेगा और फिर से पहनते समय वे हमें सीधे रुख मिलेंगे।

इससे एक फ़ायदा यह है कि जूता निकालने के बाद हम पैर से पैर मलकर या किसी कपड़े से पैर साफ़ कर सकते हैं, जिससे कपड़े गन्दे न हों।

कृपया अपने से पूछिए कि क्या आप मेरे प्रयोग को पसन्द कर इसकी आदत डालने को तैयार हैं ?



हमारे एक साथी हैं। जीवन-भर कहीं न कहीं आर्यसमाज के मन्त्री रहे और खद्दर पहना। वायुमण्डल की शुद्धि के लिए वे रोज हवन ही नहीं करते, देह-शुद्धि के लिए साबुन की टिकिया के साथ स्नानगृह में काफ़ी गहरा संघर्ष भी करते हैं।

एक दिन आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्संग में मिले। हवन-यज्ञ और कीर्तन-कथा के बाद हलवा-प्रसाद मिला। खाकर हाथ धोये, तो देखा कि हमारे वे साथी अपनी लहराती खादी की धोती से हाथ पोंछ रहे हैं। हमने समझा बेचारे के पास रूमाल नहीं, तो हमने अपना रूमाल बढ़ाया। बड़ी बेफ़िक्री से बोले : "नहीं, बस काम हो गया है !" काम तो हो ही गया, पर हमने देखा कि उनकी चमचमाती धोती का निचला हिस्सा चिकना हो गया है। बाद में एक दिन हमने उनकी धोती उसी जगह से पीली हुई देखी और उनकी पत्नी से जाना कि घर में चाहे सौ तौलिये हों, पर मन्त्री जी हाथ धोती से ही पोंछते हैं !

हमारे एक साथी हैं। बाप-दादा की दौलत भोगते हैं और शान से जी

रहे हैं। उनकी कोठी में कई बार गया, तो देखा कि और तो सब ठीक है, पर दरवाजों के परदे गन्दे हो रहे हैं और खास बात यह कि हर परदा एक खास जगह से और खास ढंग से मैला हो रहा है।

एक दिन हमने उनके ही घर भोजन किया, तो देखा कि हमारे मित्र और उनके बच्चे परदों से ही हाथ पोंछते हैं।

हमारे एक और मित्र हैं। साहित्यिक रुचि के आदमी हैं और टिप-टाप रहते हैं। उनका उनकी श्रीमती जी से अकसर इस बात पर झगड़ा होता है कि श्रीमती जी पलंग की चादर के कोने से हाथ पोंछ लेती हैं — भले ही हाथ पानी से भीगे हों या छौंक के मसाले से सने हों, बहुत-से बच्चों को अपने कुरते से हाथ पोंछने की आदत होती है और उनके कुरते सदा रँगे रहते हैं।

यह सब अलग-अलग नमूने होकर भी भीतर से एक ही हैं, क्योंकि इन सबकी जड़ में मानसिक आलस्य और प्रमाद का यह भाव है : "अरे चलो, अब तौलिया कहाँ देखें, जो सामने है उसी से हाथ पोंछ लें !"

जो लोग धोती, परदे और चादर से हाथ न पोंछकर सदा तौलियों से ही हाथ पोंछते हैं, उनमें यह आलस्य और प्रमाद न हो, ऐसी बात नहीं। घी में डूबी सब्जियाँ खाकर उठे हैं और हाथ धोकर तौलिये से पोंछा है। तौलिया पीला हो गया है — साफ-सुथरा तौलिया एकदम गन्दा; क्योंकि हाथ की चिकनाई साबुन या मिट्टी की रगड़ाई चाहती थी, पर वही बात : "अरे चलो, कौन रगड़े, तौलिया खराब होगा, हो जायेगा।"

हाथ पोंछने के लिए हमेशा तौलिये-अँगोछे का ही उपयोग कीजिए, पर हाथ पोंछने से पहले अपने हाथों को साफ करना न भूलिए, क्योंकि तौलिये का काम आपके भीगे हाथों को खुश्क करना है, गन्दे हाथों को शुद्ध करना नहीं। कृपया अपने से पूछिए कि आप तौलिये का सही

उपयोग करते हैं या नही ?



राधेश्याम रात-दिन पढता है। पुस्तक को देखते ही वह उसपर भूखे बाघ-सा टूट पडता है। जहाँ तक बने, मोल लाता है, माँग भी लेता है और दावँ बैठे तो उडा लाने में भी नहीं चूकता।

वह पुस्तक में डूबा रहता है और उसकी पत्नी खाना खाने का तकाजा किये जाती है। वह कहता है आ रहा हूँ तुम परसो, पर उठता नही। कभी-कभी इस बात पर बोल-चाल भी हो जाती है और पत्नी खाना ज्यों का त्यों छोडकर तकिये में मुँह दिये जा लेटती है।

रात मे तो बिना पढे, वह सो नही सकता और कई बार राह चलते समय भी पुस्तक में आँख गडाये, वह तगडी ठोकरें खा गया है।

राधेश्याम एक पठनशील युवक है, पर वह अपनी पढ़ी हुई पुस्तकों के ज्ञान का जीवन में व्यवहार तो दूर, बातचीत में भी कभी उसका उपयोग नही करता। वह कहता है ' पुस्तक सामने आयी पढ लो, आनन्द ले लिया। अब यह क्या जरूरी है कि उस रटे फिरूं। यह कोई गीता तो नही कि उसका पाठ किये, पुण्य मिले। दिमाग़ कोई कबाडी की दूकान तो नही कि उसमें हर चीज भरी रह सके, जो मिला सो ठूँस लिया। रेल में, जलसों मे, सिनेमा में, बाजार में हजारों आदमी मिला करते हैं। अब किस-किसकी सूरत, नाम और पते याद रखे जायें ? वही हाल पुस्तकों का है।

राधेश्याम पढी हुई पुस्तकों को देखकर कुछ दिन बाद यह भी नही बता सकता कि यह उसने पढी है या नही, पर बिना पढे उसे चैन नही पडती।

बिलिमोरिया भी पठनशील है। क़मीज भले ही फटी पहने, पर पुस्तक देखकर पसन्द आ जाये, तो बिना खरीदे नही रह सकता। कई

पुस्तकालयो का भी वह सदस्य है और उनसे पुस्तकें लेता रहता है।

बिलिमोरिया की पसन्द के अपने लेखक है और अपने विषय। वह पुस्तक पढता है और उनके फिर नोट लेता है। नोट भी विषयवार होते है और वहीखाते की तरह वह उन्हें इस तरह रखता है कि जरूरत पड़ने पर तुरन्त निकाल सके।

विश्वविद्यालय की बडी श्रेणियो के विद्यार्थी अकसर उसके पास आते है और उसके नोटो का लाभ उठाते हैं। वह उन्हें इस सरलता से सबको समझा देता है कि उन्हें सुख भी मिलता है और सुभीता भी। बहस तो उसकी कभी रुकती ही नही।

जब-तब सभा-सम्मेलनो और पत्र-पत्रिकाओं में उसकी प्रशंसा होती है। उसे पढ-सुनकर उसकी पत्नी कहा करती है: "इन प्रशंसकों को क्या पता कि यहाँ पढाई ही पढाई है, सिखाई खाक नही। जो बुरी आदतें पन्द्रह साल पहले थी, वे ही अब भी है—आखिर ऐसे पढ़ने से क्या लाभ?"

रहमान की भी जान हैं किताबें। कोई उसकी अँगूठी माँगे, तो दे देगा, पर किताब माँगे तो उसकी जान सूख जायेगी। सुबह उठते ही वह दो-तीन घण्टे पढता रहता है और फिर डायरी लिखता है। वह साल-भर में एक-दो ही किताबें खरीदता है और बार-बार अपनी उन्ही किताबों को पढता रहता है।

पहले वह पूरा शैतान था, अब फरिश्ता हो गया है, यह उसकी माँ, पत्नी और पडोसियों की राय है। वह कहा करता है: "ये किताबें मेरी साथी हैं, जो मुझे बहकने से बचाती है।"

राधेश्याम बहुत पढता है, पर कुछ नहीं जानता। पढना उसके लिए आदत है, व्यसन है। वह मूर्ख है – बुद्धि का फ़िजूलखर्च!

बिलिमोरिया खूब पढता है और बहुत जानता है। पढना उसके लिए शौक है। वह विद्वान् है – ज्ञान का भण्डारी, कंजूस।

रहमान कम पढता है और बहुत सीखता है। पढना उसके लिए पढना है। वह जीवन का साधक है।

कृपया अपने से पूछिए कि आप राधेश्याम, विलिमोरिया और रहमान, इन तीनों में से किसकी श्रेणी में हैं और यदि पहले दो में आप हैं, तो क्या अब तीसरी मे आने का प्रयत्न आरम्भ कर रहे हैं ?



पाटिल बहुत होनहार युवक हैं। विश्वविद्यालय मे उनका मान है – हमेशा फ़र्स्ट आते हैं। उनमें एक कमी है कि सिगरेट बहुत पीते हैं। इसका उनके स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है। वे इसे छोडना चाहते हैं, पर छोड नही पाते।

उस दिन किसी पत्र मे उन्होंने पढ़ा कि सिगरेट का ज़हर फेफड़े को काटता है, तो निर्णय किया कि वे अब न पियेंगे। उन्होंने तीन दिन तक सिगरेट छुई भी नहीं, पर चौथे दिन पिकनिक में यार-दोस्त लिपट गये और वे फिर सिगरेट पीने लगे।

पाटिल विवाहित हैं। उस दिन कह रहे थे : पत्नी ऐसी ज़िद्दी है कि मेरी कोई बात मानती ही नहीं। सौ बार कहा कि हर चीज़ कमरे में व्यवस्था से रहनी चाहिए, पर बस उसे कबाडी की दूकान बनाये रखती है। कई बार उससे बोलना छोड चुका, नाराज़ हुआ, पर वह सुनती ही नहीं।

शमशुद्दीन बडी उम्र के आदमी हैं – खाते-पीते और भले मानुष। एक बडी संस्था के संचालक हैं, उसका सब काम उनके हाथों में है। संस्था का काम करने में उन्हें कोई दिक़्क़त नही होती, करते-करते काम उन्हें रवाँ हो गया है, पर साल के अन्त में जब हिसाब बनता है, तो यह परेशानी आती है कि बहुत से वाउचर नही मिलते और बहुत जगह ऐसा

होता है कि बिल पर लिखा रहता है कि रकम सात तारीख को आ गयी, तो कैशबुक में वह जमा होती है बाईस तारीख को।

आडिटर इसपर एतराज करता है, परेशान करता है और शमशुद्दीन पर बुरी तरह झाड पड़ती है। यह सब रोज का हिसाब रोज लिखने और तुरन्त वाउचर न बनाने की लापरवाही का फल है।

हर बार शमशुद्दीन साहब कान पकडते है, तोबा करते है, कसमे खाते हैं। दो-चार दिन इसका असर भी पडता है, काम ठीक चलता है, फिर इरादे हार जाते है, आदत जीत जाती है, और वही ढर्रा चलने लगता है।

शमशुद्दीन साहब का कुनबा बड़ा है। बेटे हैं, पोते है, बेटियाँ है, बहुएँ है। सब तरह का सुख है, पर वे सुखी नही है। उन्हें दु.ख है कि कुनबे में कोई उनकी नही सुनता। वे चिल्लाते हैं, रूठते है, खाना छोड देते है, पर पतनाला वही पडा रहता है।

प्रिन्सिपल डेविड की उम्र साठ से कम नही, पर वे जवानों से अधिक फुरतीले है। पहले बहुत बीमार रहते थे, पर अब बीमारी उन्हें देखकर दूर भागती है। बात यह हुई कि वे पहले बहुत शराब पीते थे। एक दिन किसी डॉक्टर ने कहा: "या तो शराब छोड़ दो, या जीने की उम्मीद।"

बस वे चौकन्ना हो गये और उसी दिन उन्होंने शराब की सब बोतलें फोड दी। आज तक इसके बाद उन्होने शराब नही पी। एक पुस्तक में उन्होने पढा कि प्रात काल उठकर घूमना स्वास्थ्य के लिए उपयोगी है। वे सुबह देर तक सोया करते थे। उसी दिन से चार बजे उठने लगे। फिर एक दिन भी कभी लेट नही हुए।

उनके कॉलेज मे कोई एक हजार से ज्यादा लड़के हैं – सबसे बड़ा कॉलिज नगर में उन्ही का है और वही सर्वश्रेष्ठ है। दूसरे सब कॉलेजो मे हड़तालें होती हैं, हल्ला मचता है, पर उनके यहाँ तो जो डेविड ने कह

दिया, हो गया, यह हाल है। न उनकी बात टालने की ताक़त विद्यार्थियों मे है, न प्रोफेसरों में — कॉलेज का वातावरण उन्हीं के चारों तरफ़ घूमता-सा रहता है।

ये तीन मनुष्यों के तीन चित्र हैं, पर असल मे ये दो ही चित्र हैं। पाटिल और शमसुद्दीन दो होकर भी एक हैं। वे अपनी सब कमियो को जानते हैं, मानते हैं, उन्हें दूर करना चाहते हैं; उनके लिए निर्णय करते हैं, पर उस निर्णय पर टिक नही पाते। डेविड अपनी कमियों को जानते हैं, मानते हैं, उन्हें दूर करना चाहते हैं, उसके लिए निर्णय करते हैं और उस निर्णय पर अटल रहते हैं।

कृपया अपने से पूछिए कि आप पाटिल और शमसुद्दीन की श्रेणी मे हैं या डेविड की? और यदि अभी तक पहली श्रेणी में हैं तो क्या आज से दूसरी श्रेणी में आने का दृढ निश्चय करेंगे? इस निश्चय से पहले यह समझ लीजिए कि जो अपना निश्चय स्वयं नही मानता, उसपर अटल नहीं रहता, अपने भी उसका निश्चय-निर्देश नही मानते। पाटिल, शमसुद्दीन और डेविड की असफलता एव सफलता का यही रहस्य है।



अभी उस दिन हमारे एक सहृदय बन्धु का टेलिफ़ोन आया कि ज़रा आ जाओ, तो मैं पैदल ही उठकर चल दिया। रास्ते में पड़ा कचहरी का पुल — ऊपर से सड़क और नीचे से रेल जा रही है।

पुल पर आया, तो देखा कुछ लोग साइकिल-रिक्शा मे बैठे जा रहे हैं। चढाई पर रिक्शा पैरों से तो खिंच नहीं सकती, इसलिए रिक्शा-वाला स्वयं पैदल चल हाथो से रिक्शा खींचता है। रिक्शा को हाथों खिंचती देख मेरा मन गहराई में उतर गया और मैंने सोचा कि यहाँ खड़े होकर मनुष्यों का एक नया श्रेणी-विभाग भी हो सकता है।

वह चली आ रही है एक रिक्शा। एक आदमी रिक्शा में सवार है

और ज्यो ही ढाल पर रिक्शावाला उतरा कि वह रिक्शा में बैठा यात्री भी उतर पड़ा। अब यात्री भी पैदल और रिक्शावाला भी। दो-तीन मिनट में दोनो पुल पर पहुँच गये और यात्री फिर रिक्शे में बैठ गया। रिक्शा ढाल पर सपाटे से रपट चली। मैंने सोचा : यह यात्री मनुष्य है : क्योंकि इसे दूसरे का दु ख अनुभव होता है और यह दूसरे के लिए अपना सुख छोड़ सकता है।

वह चली आ रही है दूसरी रिक्शा। इसमे भी एक यात्री बैठा है। रिक्शावाला पैदल रिक्शा खीच रहा है और यात्री भी उसके साथ ही खिच रहा है। रिक्शा पुल पर आयी तो यात्री बोला : "भाई, बड़ी मेहनत की कमाई है तुम्हारी!"

मैंने सोचा : यह यात्री भैंसा है, जो दूसरे का दु ख अनुभव तो करता है, पर उसके लिए त्याग करने को तैयार नही।

तीसरी रिक्शा भी सामने ही है। इसमें भी बैठा है एक यात्री काफी मोटा-ताज़ा। रिक्शावाला लड़का है कच्ची उम्र का। रिक्शा उससे खिंचती नही, पसीना उसे छूट रहा है। थककर उसने कहा . "लाला जी, ज़रा उतर जाओ।" गुर्राकर यात्री ने कहा : "क्यो पैसे नही लेगा, जो उतर जाऊँ।" और वह अकड़कर बैठा ही न रहा, हँसी भी करता रहा : "अबे खीच, लगा ज़ोर!"

मैंने सोचा यह यात्री भेड़िया है, जिसके लिए दूसरे का दर्द, दूसरे की तड़फन भी राग-रंग है।

आगे बढ़ते-बढ़ते मैंने सोचा . मनुष्यों में मनुष्य भी हैं, भैंसे भी और भेड़िये भी। कृपया अपने से पूछिए कि इस कसौटी पर कसने के बाद आप मनुष्य है, भैंसे है या भेड़िये हैं और आखिरी दो मे आप आते हैं, तो क्या आज से पहली श्रेणी में आने का प्रयत्न आरम्भ करेंगे?



कोशिश तो की, पर कामयाब न हुआ

जीवन, मनुष्य की जिन्दगी, एक सरल सीधी राह है। पक्की सडक-सी सीधी और साफ, पर सड़क मे चौराहे आते है, तो आदमी उलझ जाता है कि इधर जाये या उधर और उसकी चाल रुक जाती है। अब वह होता है एक कठपुतली कि जिधर कोई चला दे, वह चले और कोई चलानेवाला न हो, तो बस झाँका करे घिरे हुए बन्दर-सा, कभी इधर और कभी उधर। इस मनुष्य की जिन्दगी में भी उस सडक-जैसे कुछ चौराहे ऐसे है कि वहाँ आकर आदमी उलझ जाता है कि यह ठीक या वह ठीक और यह करे या वह करे ।

"अरे साहब, आप जाने किन लोगो की बात करते है यह सब, हर बात में तर्क, हर बात में प्रश्नो की झडी और हर बात में सत्य-अहिंसा के झमेले; हम भी बीसियो वर्षों से इसी धरती पर जी रहे हैं। हमारी जिन्दगी मे तो न कभी सडक आयी, न चौराहा। बस खाते हैं, पीते हैं, मौज करते हैं।" लो, ये आ गये महेन्द्र साहब और मेरी बात के बीच में ही टपक पड़े।

हूँ-हूँ, ठीक कहते हैं आप। सचमुच मैं आप-जैसो की बात नही कहता, मैं तो अपने ही-जैसो की बात कह रहा था, जिन्हें पग-पग पर सोचना पडता है और सोचकर ही हर पग चलना पडता है। आप-जैसो की बात तो हमारे महात्मा तुलसीदास सदियों पहले कह गये है।

"यह क्या कह रहे हैं आप कि हमारे-जैसों की बात महात्मा तुलसीदास कह गये है। तो क्या कह गये है वे, जरा बताइए तो!"

जी, वे कह गये है कि "सब ते भले हैं मूढ, जिन्हें न ब्यापै जगत्

रति।" तो भाई साहब, आप तो उन लोगों में हैं जिन्हें जगत् की कोई बात छूती नहीं, पर हमे तो जीवन के हर चौराहे पर चौकन्ना होकर सोचना पड़ता है कि कहीं उलझ न जायें।

"आखिर वे उलझनें क्या है?"

उलझनें? चारो तरफ उलझनें ही उलझनें है सोचनेवालो के लिए। आज हमारे हजारो साथी जिस उलझन में उलझे हुए हैं, उनमें एक है कोशिश और दूसरी कामयाबी।

"आपकी इन्ही बातों को तो मैं झक कहता हूँ। वाह, क्या छौंक लगाते है आप भी। दुनिया में दो उलझनें है: एक है कोशिश और एक है कामयाबी। मालूम होता है लाल बुझक्कड मरते समय अपनी खोपडी आपके यहाँ धरोहर रख गया है कि कभी स्वर्ग से वापस लौटा, तो उसे ले लेगा और आपको बातचीत से पता चलता है कि आप अब उस बेचारे के लौटने से एकदम निश्चिन्त हैं और उस खोपडी को रात-दिन रगड़ रहे हैं।"

हमने जीवन-दर्शन की इतनी गहरी बात आपके सामने रखी और आप उसे लाल बुझक्कड की खोपडी की रगड ही बता रहे हैं। वाह, वाह, बात भी कहे तो बस आप-जैसे से कहे कि कहे अंगूर और समझे लंगूर!

"जी, जी, यही बात है। आपने कही जीवन-दर्शन की इतनी गहरी बात और हमने उसे लाल बुझक्कड की खोपडी की रगड़ ही बता दी, पर खैर, बता दी सो बता दी, अब आप हमारी गूढ-गीता की भी एक बात सुन लो। कोशिश और कामयाबी ये जीवन की उलझनें नहीं हैं जैसा कि आप अभी कह रहे थे। इन दोनों के मिलाप से एक ऐसी दवा बनती है कि जिन्दगी की सब उलझनें उससे अपने-आप सुलझ जाती हैं।"

आज तो आप सचमुच बडी दूर की कौडियाँ ला रहे हैं महेन्द्र साहब! अच्छा बताइए तो सही कि वह दवा क्या है, जिससे जिन्दगी की सब उलझनें सुलझ जाती है?

"दवा ? आप तो इस तरह उचककर पूछ रहे हैं कि जैसे मेरी दवा हकीम पन्नालाल का खमीरा मरवारीद, वैद्य कृष्णदत्त का यकृतप्लीहान्तक या विलायती डॉक्टर की निगोडीन हो। मेरी दवा एक विचार है, एक युक्ति है, एक तरकीब है, जो उलझनों को सुलझाती है और उलझिए मत लीजिए वह दवा है—कोशिश तो की, पर कामयाब न हुआ !"

वाह भाई, यह क्या खाक दवा है, यह तो एक पुराना बहाना है।

"यह बहाना है या क्या है, इसे समझने के लिए जबतक मैं जीवित हूँ आपको बुद्धि का व्यायाम करने की जरूरत नहीं। आप सरलता के साथ मेरे अनुभवों से लाभ उठा सकते हैं। मैं अपने मुहल्ले में सबसे बड़ा आदमी समझा जाता हूँ और मुश्किल यह कि धन-दौलत में ही नहीं, मनुष्यता में भी। सब लोग मेरे ऊँचे मकान से ही प्रभावित नहीं हैं, मेरी सज्जनता के कृतज्ञ भी हैं। आप मुझे बहुत भाग्यशील कहेंगे कि मेरे हिस्से में दाम भी आया और नाम भी, पर मैं बड़ा ही बदनसीब सिद्ध होता, अगर कोशिश और कामयाबी की यह दवा मेरे पास न होती।"

यह कैसे ? आज तो महेन्द्र साहब, सचमुच आपकी बातें गूढ़-गीता से दूर जीवन की फ़िलासफ़ी के घेरे में घूम रही हैं और आप तो अनुभवों के आचार्य हुए जा रहे हैं। हाँ, तो कैसे आप इस दवा से बदनसीबी को खुशनसीबी में बदल देते हैं। बताइए तो ?

"अच्छा, यह आपका सवाल है, पर मुझे इससे कोई उलझन नहीं, क्योंकि मेरे पास तो इसका उत्तर तैयार ही है। यह उत्तर भी कोई उत्तर नहीं, एक अनुभव है।

एक दिन मैं सुबह सोकर उठा और चाय की पहली घूंट गले से उतारी कि लाला नन्दराम आ पहुँचे। कभी बहुत अच्छे हाल में थे, अब दिन काट रहे हैं। घर में वे हैं, उनकी बुढ़िया है और जवान पोती है। बेटा और बहू पिछली प्लेग की भेंट हो गये। लम्बी बातचीत के बाद बोले : "अब हम लड़की के हाथ पीले करते हैं। वह अपने घर की हो जाये, तो मैं गंगा नहा आऊँ और यह काम आपकी मदद के बिना हो नहीं

सकता। इसलिए ऐसा इन्तजाम कर दीजिए कि दशहरे तक मुझे एक हजार रुपये मिल जायें। यह आप यकीन रखिए कि धीरे-धीरे मैं आपको पाई-पाई चुका दूँगा।"

मैंने उनकी बात बड़े ध्यान से सुनी और आदर के साथ उन्हें चाय का एक प्याला पिला देने के बाद कहा: आप कोई चिन्ता न करें, मैं पूरी कोशिश करूँगा कि आपकी सेवा कर सकूँ। हजार रुपये की बात ही क्या है। मैं तो आपको इसी समय रुपये उठा देता, पर आज-कल जरा खुश्की है। वैसे कोई बात नहीं, कई जगह से रुपये वापस आनेवाले हैं। भगवान् की दया होगी, तो सब काम हो ही जायेगा।

लाला नन्दराम प्रसन्न होकर चले गये। मैंने अपने मन में सोचा कि नन्दराम उम्र मे बूढ़ा और साधनो से हीन; फिर किस बैंक से इसका ड्राफ्ट आनेवाला है, जो मुझे यह रुपये लौटा देगा!

मैं सोच ही रहा था कि चौधरी साहब आये। पुराने देशभक्त हैं। देहातो में धुआँधार लेक्चर देते हैं और कलम का सिर दवात में डुबाना भी जानते हैं। इधर-उधर की बातो के बाद बोले: "एक बड़ा अच्छा चान्स है कि आपके बड़े बहलखाने मे एक प्रेस लगा लें। चुनाव ऊपर से आ रहा है, एक छोटा-सा अखबार भी निकाल देंगे। बस चाँदी ही चाँदी है। प्रेस में ज्यादा से ज्यादा चार-पाँच हजार रुपये लगेंगे और यह चुनाव कम से कम दस हजार रुपये दे जायेगा। प्रेस मुफ्त में पड़ेगा। बाद में भी तीन सौ रुपये महीने की गोली है। इस समय रुपये आप लगा दें, मेहनत मैं कर लूँगा, बस आधे-आधे की पत्ती!"

मैंने कहा: हाँ, चान्स तो बुरा नहीं दीखता। आप बातचीत करें, मैं भी कोशिश करूँगा। भगवान् की दया होगी, तो सब काम हो ही जायेगा। चौधरी साहब खुशी-खुशी चले गये, तो मैं सोचने लगा: पाँच हजार रुपये मैं लगा दूँ और प्रेस चौधरी साहब लगा लें। आधे-आधे की पत्ती रही; यहाँ तक तो ठीक है, पर यह पत्ती लोहे की होगी या अलमूनियम की, या फिर ईख के गोले की ही सूखी पत्ती रह जायेगी,

यह किस ज्योतिषी से पूछूँ ?

आइए, बाबू साहब आइए, आज तो आपने बहुत दिनों में दर्शन दिये। अरे भाई, कहाँ थे आखिर कश्यप साहब !

टिपटाप श्री चन्द्रभान कश्यप आ धमके, तो मैंने उनसे पूछा। बोले : "भाई साहब, मैं इधर बराबर बम्बई, कलकत्ता, इन्दौर और दिल्ली के चक्कर पर रहा। पचास लाख रुपये से एक कम्पनी लिमिटेड की है। यह उसका मेमोरेण्डम है, यह प्रासपेक्टस। कई राजा लोग इसके डाइरेक्टर हैं। पैंतीस लाख रुपये के शेयर्स ऑलरेडी बिक गये हैं। पहले हम फ़िल्म बनाने का काम करेंगे और बाद में मकान बनाने का। दोनों काम बड़े पेइंग हैं। पहले ही साल में पचीस-तीस लाख रुपये हम कमा लेंगे।"

मैं आश्चर्य से कश्यप की तरफ़ देख ही रहा था कि वह बोला : "बस अब मुझे मैनेजिंग एजेन्सी बनानी है। दसियों बड़े-बड़े आदमी पीछे पड रहे हैं, पर मैंने सबको मना कर दिया है। मैंने अपने साथ मैनेजिंग एजेन्सी में आपका नाम रखा है। यह देखिए, छप भी गया है। मैं जानता था कि आप मना न करेंगे। ज्यादा नही कोई पचीस हजार रुपये शुरू में दिखाने पड़ेंगे। बाद में तो रुपया ही रुपया है। आप चाहें, तो चुपचाप कम्पनी के रुपये से कोई दूसरा बिजनेस करके फ़ायदा उठाते रहें। महेन्द्र साहब, इस कम्पनी के बिजनेस में यही तो लुत्फ़ है कि रुपया पब्लिक का और मज़ा यारों का।"

मैंने कहा मिस्टर कश्यप, निशाना तो तुमने खूब लगाया है, पर मेरे पास रुपया कहाँ है ? मैं तो ग़रीब आदमी हूँ, फिर भी कोशिश करूँगा। भगवान् की दया होगी तो सब काम हो ही जायेगा।

कश्यप साहब भी खुशी-खुशी चले गये और संक्षेप में यों समझ लो कि शाम तक कोई पचीस आदमी इसी तरह से आये और इसी तरह खुशी-खुशी गये। इस पचीस में एक कोढी भी था। उसे मैंने एक आना दे दिया और बाक़ी को अपनी दवा की आधी खुराक कि—"कोशिश करूँगा।"

—लेकिन महेन्द्र साहब, आखिर ये लोग फिर भी तो आपके पास आयेंगे ही उस समय आप इन्हें क्या जवाब देंगे ? मैंने पूछा तो महेन्द्र साहब बोले : "आप भी सारी उम्र चुकन्दर ही रहे। अरे साहब, दवा की आधी खुराक जो रखी है कि कामयाब न हुआ। बात साफ है कि कोशिश तो की, पर कामयाब न हुआ; यानी अब आप कोई दूसरा दरवाजा झांकिए।"

ठीक है, पर महेन्द्र साहब, इससे वे लोग सन्तुष्ट तो हो नहीं सकते; क्योंकि उन्हें आपकी दवा की नहीं, रुपयों की जरूरत है ? मैंने पूछा, तो महेन्द्र साहब बोले : "इस दवा के खिलाने में कला ही यह है कि भूख न मिटे और तृप्ति हो जाये।"

अपनी इस कला के सम्बन्ध में कुछ अधिक बताइए तो सही, मैंने पूछा, तो महेन्द्र साहब एक विशेषज्ञ की तरह बोले . "कला का ज्ञान साधना चाहता है। यह वर्षों में सीखने की बात है। फिर भी दो बातें आप सदा याद रखिए। पहली यह कि कोशिश करने का वादा अधिक से अधिक उत्साह में भरकर कीजिए और कामयाब न होने की घोषणा अधिक से अधिक दु:ख मे डूबकर। दूसरी बात यह कि इस कला की सफलता का सारा रहस्य इस बात मे है कि उसे आप यह विश्वास दिला सकें कि सचमुच आपने कोशिश की, पर वाकई आप कामयाब न हुए। यह काम आप एक ही तरह हर जगह नहीं कर सकते। इसके लिए मनुष्यों की प्रकृति का ज्ञान आवश्यक है। कोई किसी तरह सन्तुष्ट होता है, कोई किसी तरह, पर रहस्य का मन्त्र यही है कि उसे यह विश्वास हो कि आपने वाकई बहुत कोशिश की, पर कामयाब न हुए।"

महेन्द्र साहब, कुछ भी हो आखिर यह अन्याय है—असत्य है, उस आदमी के साथ, जिसे पहले विश्वास दिलाया जाये और बाद में अँगूठा दिखा दिया जाये। मैंने कहा, तो महेन्द्र साहब बोले : यह अन्याय है ? वाह-वाह, अरे भाई! इसमें न अन्याय है, न असत्य, यह तो सहृदयता है। क्या कोशिश का वादा करते समय मेरी भावना यह होती है कि मैं

उसे धोखा दूँ ? ना, मेरी भावना तो यही होती है कि उसका दिल न तोड़ूँ। कौन जाने वह पहले-पहल मेरे ही पास आया हो और बड़े पुरुषों का अनुभव है कि पहले द्वार की निराशा मनुष्य के संकल्पों की हत्या कर देती है। इस दशा में नये प्रयत्नों का साहस ही टूट जाता है। क्या इस स्थिति से मनुष्य को बचाना अन्याय है, असत्य है ?

फिर अपने पास आनेवालों में सब गौमाता ही तो नहीं होते कि उन्हें चारा देना पुण्य हो, कश्यप-जैसे साँप भी तो होते हैं, जिनका काम ही डंक मारना है। ऐसे साँपों का एक इलाज लाठी से सिर तोड़ना भी है, पर कोई गुड़ देने से मरता हो, तो उसे जहर देना क्या कोई अक्ल की बात है ?"



बीमारी; एक राहत

एक हमारी भाभी जी हैं। चलती हैं, तो कोठी के टाइल तीन सूत जमीन में धँस जाते हैं और काम में उनके हाथ इस तरह चलते हैं कि जैसे वे किसी आदमी के हाथ न होकर किसी बिजली की मशीन के पुरजे हों। ये पुरजे, जिनके चुप रहने से जंग लगने का खतरा सामने होता है। हाँ, तो वे कभी अपने हाथ-पैरों को चैन से बैठने नहीं देती और बराबर कुछ न कुछ किये ही जाती हैं।

वेद में भी कर्म का महत्त्व बताया है और कुरान में भी, बाइबिल मे भी और गुरु ग्रन्थ साहब में भी, पर उन्हें प्रेरणा मिलती है भारत के एक पुराने होकर भी नये सन्त के वचन से।

"कौन-सा वचन ?"

ठीक है, वह वचन आप सुनना चाहते हैं और मुझे तो वह आपको सुनाना ही था; बात जो आगे नहीं बढ़ती बिना उसे आपको सुनाये, तो सुनिए वह वचन यह है :

"खाली बैठे कुछ किया कर,
कुछ नहीं, तो कपड़े फाड़ा कर और सिया कर !"

"वाह साहब वाह ! यह अच्छा सन्त-वचन आपने सुनाया कि जब और कोई काम न हो, तो खाली मत बैठो। नये कपड़ों को फाड़ो और उन्हें सियो। भला यह भी कोई अक्ल की बात हुई ?"

मैं पहले ही जानता था कि आप यह वचन सुनकर भड़केंगे पर मैं जानता हूँ कि मेरी पूरी बात सुनकर आप यह मान लेंगे कि कर्म के

महत्त्व पर इससे बड़ी बात न संसार के किसी साहित्यिक ने कही और न सन्त ने।

"तो सुनाइए आप अपनी पूरी बात!"

जी हाँ, सुना रहा हूँ और सुना क्या रहा हूँ कुछ यों ही राजी-खुशी, सुनानी पड़ रही है; क्योंकि न सुनाऊँ, तो आप देखते रहें बस मेरी तरफ और मेरी बढ़ती बात जाये थम—जैसे घनघोर सर्दी में पानी बरफ बनकर जम जाता है।

बात यह है कि आदमी के भीतर काम करने की शक्ति है, उनकी एक हद है एक सीमा है। उससे ज्यादा बोझ हम उसपर लादें, तो वह टूट जाती है, और उससे कम काम लें, तो बिना चलते पहिये की तरह वह जंग खा जाती है—कमजोर हो जाती है। इसलिए जरूरी है कि हम अपनी शक्ति-भर काम करते रहें। यह जरूरी इतना जरूरी है कि हमारे पास कभी काम न हो, काम की कमी हो, तो हम काम निकालें, काम करें; भले ही यह निकाला हुआ काम कपड़े फाड़कर सीने का हो!

जिसने यह बात कही, वह कम से कम हमसे ज्यादा नहीं, तो कम होशियार तो न था। वह मनुष्य के शरीर की बनावट से ही नहीं, मन की बनावट से भी परिचित था। वह जानता था कि कपड़ा तो मरम्मत किया हुआ भी काम दे सकता है, पर मनुष्य के भीतर अठखेलियाँ करती काम करने की शक्ति कमजोर हो जाये, तो फिर वह पूरी नहीं हो सकती। 'खाली बैठे बेगार भली' इस कहावत में यही तो सत्य छिपा है!

और लीजिए, एक और बात बताऊँ आपको कि जब मैं बीमार पड़ता हूँ तो मुझे एक अन्दरूनी राहत मिलती है।

"ओहो-वाह! अभी तक तो कपड़ों को फाड़कर सीने का विज्ञान ही बघार रहे थे, अब बीमारी में भी एक अन्दरूनी राहत आपको दिखने लगी, यानी सेर पर सवा सेर!"

आपमें यह बड़ी खराब आदत है कि न तो पूरी बात सुनते हैं, न समझते हैं, हाँ नाक चढ़ाते हैं। पूरी बात सुन लीजिए और फिर देखिए

कि कपडो को फाडकर सीने की तरह आपको बीमारी में भी कोई राहत दिखाई देती है या नही ।

मैंने कहा नहीं आपसे अभी कि जब हम अपने शरीर को उसकी शक्ति से ज्यादा या कम काम देते है, तो वह एक झटका खाता है और बीमारी इस झटके के खिलाफ एक बगावत है।

बगावत के नाम से आप चौक क्यो पडे ? हमारे देश में १८५७ से १९४२ तक बगावतो का ही दौर-दौरा रहा, पर हाँ आपने तो उनमे कोई हिस्सा लिया नही, फिर क्या जानें आप, भला बग़ावत की राहत !

हमारे देश में एक यशस्वी धनपति है : श्री घनश्यामदास बिडला, धनपति और विद्वान् ! वे एक बार अँगरेज़ सरकार के किसी कमीशन का मेम्बर बनकर वियेना गये। वहाँ उन्होंने सरकारी काम के साथ एक काम यह किया कि डॉक्टरों को अपना मेदा दिखाया। उनकी राय में उनका मेदा कमजोर था, पर डॉक्टरो ने कहा : आपका मेदा तो सेठ साहब, बिलकुल ठीक है।

सेठ साहब की अक्ल परेशान कि यहाँ तो खट्टी डकारो, हँकारो और अफारों से नाक में दम है और ये भले आदमी कहते है कि मेदा आपका ठीक है। अजीब विशेषज्ञ हैं ये ! सेठ जी ने लाख अपनी डकारों के नारे लगाये, पर डॉक्टरों ने एक न सुनी।

अन्त में उन्होने कहा : "आप अगर एक मन बोझा उठा सकते हैं और आपपर लाद दिया जाये दो मन, तो क्या आप चल सकेंगे ?"

सेठ जी बोले : "ना, मैं तो गिर पडूँगा।"

विशेषज्ञ बोले : "यह गिर पडना कोई बीमारी थोडे ही है। यही हाल आपके मेदे का है। उसमें जितना खाना हजम करने की ताक़त है, आप उससे ज्यादा खा लेते है, बस पेट उसे बरदाश्त नही करता और डकारों और अफारों के रूप में बगावत कर देता है !" बिड़ला जी यह बात मान गये।

अच्छा, आप जानते है कि मरना क्या होता है ?

मैं जानता हूँ कि आप इस प्रश्न पर भी भड़केंगे और कहेंगे बड़े तपाक से कि वाह साहब, यह भी कोई प्रश्न है कि मरना क्या होता है ? इसे तो बच्चे भी जानते हैं कि मरना होता है मर जाना। हमारे बाप-दादा, पर-दादा सब मर गये कि नहीं ?

जी हाँ, आपके बाप, दादा, परदादा मर गये और आपने भक्तिपूर्वक उन्हें ठिकाने लगा दिया, यह भी मैं जानता हूँ, पर इससे मेरे प्रश्न का तो हल हुआ नहीं। मेरे प्रश्न में यह कहाँ था कि आपके कुनबे की मरण-रिपोर्ट क्या है ? मैं तो सिर्फ यह पूछ रहा हूँ कि मरना आखिर होता क्या है ?

सुनिए, आप क्या बतायेंगे इस सवाल का जवाब, मरने का मतलब है शरीर में बगावत करने की ताक़त न रहना।

आपकी समझ ज़रा सूक्ष्म है, इसलिए मैं अपनी बात को यों कहना चाहता हूँ आपका पैर काँटे पर पड़े, तो आप उछल पड़ते हैं। यह उछलना आपके शरीर की बग़ावत है। अब अगर काँटा चुभे और शरीर न उछले तो समझिए कि आप मर गये या मर रहे हैं। तो मेरी सारी बात का सार यह है कि बीमारी शरीर पर होनेवाले बाहर-भीतर के आक्रमणों के विरुद्ध एक बग़ावत है और इसीलिए मैं कह रहा हूँ कि बीमारी में भी एक राहत है; यानी यह विश्वास कि मैं बीमार हूँ, तो अभी जीवित हूँ, युद्ध कर रहा हूँ, मर नहीं रहा हूँ। जीवन के विश्वास से बढ़कर भी क्या कोई और राहत हो सकती है !

कभी-कभी तो जीवन का विश्वास मनुष्य के लिए एक नये जीवन का मार्ग खोल देता है। आप तो जानते ही हैं भगत नन्दलाल को। कौन है, जो आज उनका भगत नहीं। सभी उन्हें सिर आँखों लेते हैं, पर मालूम है आपको कि पन्द्रह साल पहले वे नम्बर एक के दुष्ट थे।

जाने कितनों को जालसाज़ी में फाँसकर उन्होंने लूट लिया, कितनों की इज्ज़त ली और कितनों की जानें। पूरे खूनी थे खूनी, पर अब पूरे भगत हैं। भगत भी बगुला भगत नहीं, सच्चे भगत। वाक़ई ज़िन्दगी

बदल गयी उनकी और वो भेड़िये से गाय बन गये। अपाहिज-आश्रम तो उनका मशहूर है ही, सेवा के और भी बहुत-से काम उनके हाथो चल रहे हैं।

यह इतना बड़ा परिवर्तन, तबदीलो, उनमें कहाँ से आ गयी? बात यह हुई कि वे एक बार बीमार पड़े और बीमार क्या पड़े, उनका तमाम शरीर फूट आया। कही सीक रखने को भी जगह नही। फुन्सी ही फुन्सी; यों समझिए कि फुन्सियो से घिरे वे खुद एक फोड़ा बन गये। न करवटें ले सकें, न बैठ सकें। चारो ओर बदबू ही बदबू। ऐसी हालत में तो कोई लोकप्रिय आदमी भी परेशान हो जाता है; फिर अपनी दुष्टता के कारण, वे तो सबके दुश्मन ही थे। तब कौन आता उनके पास इस हालत में।

मनुष्य के मन की यह बनावट है कि जब बाहर से निराश हो जाता है, तो अपने भीतर झाँकता है। नन्दलाल ने भी बाहर से निराश होकर भीतर झाँका और भीतर क्या झाँका उन्होंने एक नयी दुनिया देखी। उसने जीवन-भर जिन्हें सताया था, वे ही सब वहाँ खड़े दिखाई दिये और दिखाई क्या दिये, नन्दलाल को लगा कि हर एक फुन्सी के रूप में उनका पहले सताया हुआ कोई आदमी आज उनकी छाती पर सवार है। वे काँप उठे और अपने ऊपर उन्हें गहरी घृणा हो गयी।

उन्होंने चाहा कि वे मर जायें, पर चाहते के पास मौत कहाँ आती है। मौत उन्हें छोड़ गयी और वे अच्छे हो गये। अच्छे क्या हुए, बस अच्छे ही हो गये। अब वे बीमारी से पहले के नन्दलाल न थे, नये नन्दलाल थे। अपना धन लगाकर उन्होंने एक अपाहिज-आश्रम खोल लिया था। वे उसके मालिक नही, सेवक थे। उनका चेहरा अब और तरह का हो गया था। उसपर क्रूरता की जगह कोमलता आ गयी थी और गले की कड़क मिठास में बदल गयी थी। अब वे राक्षस नन्दलाल नही, देवता नन्दलाल थे। कोई समझे तो क्या समझे? अब बताइए आप ही कि आज उन्हें जो राहत नसीब थी, वह बीमारी की राहत ही तो थी।

विश्वविख्यात लेखक श्री एच. जी. वेल्स का निर्माण भी तो बीमारी ने ही किया था। वे पतले-दुबले बालक थे। अपने बचपन में एक दिन उनके साथियो ने गेंद की तरह उन्हें उछाल दिया। उत्साह में उछाल तो दिया, पर वे बोच न सके। नतीजा यह कि उनकी हड्डी टूट गयी और वे एक साल पलग पर पड़े रहे। पड़े-पड़े और तो कुछ कर ही न सकते थे, पुस्तकें पढते रहे और इस शान्त अध्ययन ने ही उन्हें लिखने की ताजगी दी।

एक बार वे फिर बीमार पड़े और इस बार तो ऐसे पड़े कि जीवन की उम्मीद ही जाती रही। बात यह हुई कि वे फुटबाल खेल रहे थे और गिर पडे। इस बीमारी से उभरने में उन्हें बारह वर्ष लगे। उन बारह वर्षों में पडे-पडे पुस्तकें पढते रहे और वे खुद कहा करते थे कि मेरी बीमारियो ने ही मुझे विश्वविख्यात बनाया।

यों कहो तो यह एक मामूली बात है, पर जरा गौर करो, तो इस बात में एक बहुत बडी बात है। बडी बात यह है कि मनुष्य अपने से बाहर भटकता फिरता है, पर राहत, चैन और शान्ति स्वय उसके भीतर है। अब इस मसले पर मैं आपको गीता की गम्भीरता में उतारूँ या फिर योग-वासिष्ठ या योगदर्शन में ले चलूँ, तो शायद आप घबरा उठें; क्योंकि बात यह है कि आप इस वक्त दिलचस्प बातचीत की मूड में हैं और बहुत हो तो डॉक्टर की चीनी-चढी कुनैन भी ले सकते हैं—हकीम साहब का काढा नही।

तो खैर, रहने दीजिए, आज गीता और योग की गहराइयाँ, पर पागलों में तो आपकी काफ़ी दिलचस्पी है। मुझे याद है उस दिन हम लोग बैठे बातें कर रहे थे, तो वह हैट-कोट-पतलूनधारी पागल आपके बैठकखाने में घुस आया था।

हाँ-हाँ, आपने उसमें काफ़ी दिलचस्पी ली थी और उसके साथ गप्पो के गुब्बारे खूब उडाये थे।

"कहाँ गीता और योग की गहराइयाँ और कहाँ पागल की बात ?

आप भी खूब बेपर की उड़ाते हैं।"

जी, मैं खूब बेपर की उड़ाता हूँ। यह परवाली आपने खूब उडायी, पर न आपसे बात कर रहा हूँ मैं गीता की और न पागलो की, मैं तो बात कर रहा हूँ बीमारी की राहत पर और यकीन कीजिए कि इस पागल की बात का भी उस बात से एक सिलसिला है ही।

भारत के एक मनोवैज्ञानिक ने पागलों के सम्बन्ध में जो नयी खोज की है, उसमें उन्होंने एक बडी मजेदार बात कही है कि जिन परिवारों में पागल होते हैं, उसमें ही ऊँचे दरजे की विभूतियाँ भी पैदा होती हैं। वैज्ञानिक ने इसकी छान-बीन करते हुए कहा है कि हमारे दैनिक जीवन की कठोरताएँ जीवन में इस तरह की दुश्चिन्ताओं को जन्म दे देती हैं कि जीना एक बोझ हो जाता है। इस हालत में पागलपन राहत की एक महान् औषधि सिद्ध होता है, जो जीवन की तमाम दुश्चिन्ताओं और असफलताओं का हरण कर आदमी को बिना मुकुट का राजा बना देता है।

"बिना मुकुट का राजा ?"

अजी, राजा क्या, राजाओं का भी राजा ! लीजिए दो पागलों का एक दिलचस्प संवाद सुनिए, एक पागल ने अपनी मस्ती में झूमकर कहा : "ऐ दुनिया के लोगो, मैं तुम्हें खुदा के कहर से बचाने के लिए ही धरती पर भेजा गया हूँ। आओ, मेरे दामन के साये में आकर खडे हो जाओ। मैं क़यामत के दिन तुम्हारे सब गुनाह बख्शवा दूँगा।"

एक दूसरा पागल कुछ दूर घास पर पड़ा इन हजरत की बातें सुन रहा था। उसने अधउठे होकर, इनकी तरफ देखा और बहुत गम्भीरता से कहा . "ऐ दुनिया के लोगों, यह झूठ बोलता है। मैंने इसे दुनिया में नही भेजा और न इसके कहने से मैं कयामत के दिन एक भी आदमी को बख्शूँगा।"

मतलब साफ कि पहले महाशय अपनी आँखों में पैग़म्बर थे, तो दूसरे महाशय उनसे भी ऊपर साक्षात् खुदा ही थे। कहिए यह राहत, यह सन्तोष और यह मस्ती पागलपन की बीमारी के सिवाय आपको या मुझे

और कौन दे सकता है और यही राहत तो है, जो हमारे उस वैज्ञानिक के कहने के अनुसार उन परिवारों में महापुरुषों को जन्म देती है, जिनमें अक्सर लोग पागल होते हैं।

"अच्छा आपने हमें एक बार लड़ाई का व्याकरण बताया था। हमारे मित्रों तक ने उस व्याकरण में बहुत रस लिया। क्या बीमारी की राहत का भी कोई व्याकरण आप हमें बता सकते हैं?"

तो यों कहिए कि सवाल पूछकर आप मेरा मज़ाक़ उड़ा रहे हैं, पर हज़रत, याद रखिए कि यह मज़ाक़ कुछ जमेगा नहीं, क्योंकि बीमारी की राहत का एक व्याकरण सचमुच है।

"क्या कहा आपने कि बीमारी की राहत का सचमुच एक व्याकरण है? कहाँ है वह व्याकरण, हमने तो कभी पढ़ा नहीं उसे?"

जी, आपने उसे सैकड़ों बार पढ़ा है, पर पढ़ने से क्या होता है, समझा नहीं आपने। बीमारी की राहत का व्याकरण उर्दू में है और बरसों हुए छप भी चुका है।

"उर्दू में बरसों हुए बीमारी की राहत का व्याकरण छप चुका है, यह क्या कह रहे हैं आप?"

जी, मैं ठीक कह रहा हूँ। लीजिए, आप भी देख लीजिए बीमारी की राहत के व्याकरण का पहला सूत्र यह है कि आदमी मौत से न डरे और उसे ज़िन्दगी की ही एक क़िस्त समझता रहे। देखिए, किस सफ़ाई और सादगी से यह बात कही गयी है:

"जिस पै एहबाब बहुत रोये, फ़क़त इतना था—
घर को वीरान किया, क़ब्र को आबाद किया।"

अरे भाई, मौत इतनी ही बात तो है कि एक ज़िन्दगी छोड़ दी और दूसरी शुरू की। फिर इसमें परेशानी क्या, हाय-हाय क्यों, यह भी जीवन है, वह भी जीवन! मनुष्य अपने अमर जीवन की एक लम्बी यात्रा पर चला जा रहा है। यह आज का जीवन इस यात्रा का एक स्टेशन है। स्टेशन पर भला, कब कौन बसा है। तो फिर स्टेशन से उठने का रंज

क्या, बेचैनी कैसी ? सामान उठाया और उठ चले। देखिए न, यह बात इस व्याकरण में किस सफाई से कही गयी है :

"हिर्सो हविसो ताबो तवाँ 'दाग' जा चुके।
अब हम भी जानेवाले हैं सामान तो गया।"

भावनाएँ, वासनाएँ और आवेग चले गये। इनसानी जिन्दगी के यही तो असली सामान हैं। अनुभवी दाग़ कहते हैं, बस इस सामान के बाद हम भी जाने ही वाले हैं। ठीक भी है, सामान उठाकर नयी गाड़ी में रखा गया, तो कौन है, जो फिर स्टेशन पर ही जमा बैठा रहे ?

यह शान्ति, यह स्थिरता मनुष्य में रहे, इसके लिए उसमें विश्वास की जरूरत है। यह विश्वास या तो मृत्यु की अनिवार्यता का विश्वास हो, जैसा कि अभी मैंने कहा और या फिर जीवन की अनिवार्यता का :

"मसरूफ कर लिया मुझे उसके खयाल ने,
जा ऐ अजल कि मरने की फुरसत नहीं मुझे।"



आप कितने भले हैं ?

हर मनुष्य भला आदमी, सज्जन पुरुष बनना चाहता है। न कोई दुर्जन होना चाहता है, न अपने को दुर्जन कहलाना चाहता है, पर सज्जन वह हो सकता है, जो अपने हर काम को अपनी आँख की तराजू में तोल-कर चले।

क्या आपने कभी ऐसा किया है? क्या कभी एकान्त में बैठकर गहराई से सोचा है कि आप सज्जन हैं या दुर्जन? और यदि सज्जन हैं, तो कितने सज्जन? मेरा विचार है कि ऐसा आपने कभी नहीं किया और आप भी उन्हीं लोगों में हैं, जो बिना जाने किधर जा रहे हैं, चले जा रहे हैं।

आप अपने कामों में स्वतन्त्र हैं, पर मुझे इतना कहने का तो अधिकार है ही कि जीवन की यात्रा कोई अन्धों की रैली नहीं है। यह तो एक सुव्यवस्थित यात्रा है। अधिकांश लोगों के दुःखी होने का कारण यही है कि उन्हें जो मिल गया, वे उसे ही ढोये चल रहे हैं और जो उन्हें मिलना चाहिए, उसे पाने का, अपने लिए उसके नव-निर्माण का, वे प्रयत्न नहीं करते।

जीवन में हर घड़ी ऐसे अवसर आते रहते हैं, जिनमें मनुष्य कुछ सीखे, कुछ पाये और अपने को आज से कल श्रेष्ठ बनाये, पर हम जीवन को आँख खोलकर नहीं देखते, अपने सामने अनायास आ पड़े रत्नों को नहीं बटोरते। उर्दू के कवि ने दुःखी होकर एक दिन कहा था :

"'ये' इबरत की जा है, तमाशा नहीं है।"

अरे भाई, यह दुनिया, यह जिन्दगी, इबरत की, सीखने की जगह है, कोई तमाशा नही है कि बस देख लिया, देख लिया, पर इबरत के लिए, सीखने के लिए तो साधना की, श्रम की आवश्यकता है।

आप भी चाहें, तो एक नयी इबरत, एक नयी शिक्षा ले सकते हैं। और अपने को भला आदमी, सत्पुरुष और श्रेष्ठ नागरिक बना सकते हैं। सुविधा के लिए कुछ प्रश्न ये हैं। अपने से पूछिए और उत्तर दीजिए, तुरन्त परिणाम आपके सामने आ जायेगा।

१. आपके नौकरों के वस्त्र, निवास और भोजन की व्यवस्था कैसी है ?

२ क्या उनके गन्दे और फटे वस्त्रो को देखकर आप विह्वल हो उठते हैं और उनके लिए अपेक्षाकृत अच्छे वस्त्रो की व्यवस्था किये बिना आपके मन को चैन नही पडती ?

३. जब वे काम से निमटकर दोपहर को सोते हैं, तो उन्हें देखकर आपको सन्तोष मिलता है या झुंझलाहट आती है ?

४. क्या आप ध्यान रखते हैं कि जो कुछ आप खायें वह उन्हें भी अवश्य मिले ?

५. क्या आप उनमे पढने-लिखने की प्रवृत्ति जगाने का प्रयत्न करते है ? सक्षेप में क्या आपको इस बात की चिन्ता है कि वे आज से कल श्रेष्ठ हों ?

६. क्या रेल में बैठने पर आपको इस बात से प्रसन्नता होती है कि दूसरे यात्री भी उस डिब्बे में चढें ?

७. क्या स्त्रियो और बूढो को खडा देखकर आप अपना स्थान उन्हें देकर कभी स्वय खडे रहे हैं ?

८. जब कोई संकटग्रस्त सहायता के लिए आपके पास आता है, तो आप अपने बुरे दिनों को याद कर उसका हाथ बँटाते हैं या झंझटों से बचने के लिए उसे टाल देते है ?

९. जब आप अपने बच्चो के साथ बैठे कोई बढिया चीज खाते है,

तो पडोसियो के बच्चे यदि उस समय वहाँ आ जायें, तो आपके मन पर क्या प्रभाव पड़ता है ?

१०. आप अपने साथ अपने मालिकों, अफसरों या बुजुर्गों का जो व्यवहार चाहते हैं, क्या उसमें और आपका आपके नौकरों, मातहतों और छोटों से जो व्यवहार है, उसमें समानता है ?

११ जो बातें आप पूरी तरह नही जानते, क्या आप उनपर भी राय देते हैं और जिन मामलों को आप पूरी तरह नही समझते, उनपर भी बहस करते हैं ?

१२. आप दूसरों से, समाज से, शासन से अपने लिए बहुत कुछ चाहते है, पर क्या कभी आपने सोचा है कि दूसरे लोग, समाज और शासन भी आपसे कुछ चाहते हैं ?

१३. आप उन सुखो पर अधिक विचार करते हैं, जो आपको प्राप्त है या उनपर जो आपको प्राप्त नही हैं ?

१४. क्या आपके जीवन में एकान्त के लिए स्थान है ?

१५ यदि आपके दो मित्रों मे मतभेद हो, तो आप एक का पक्ष लेते हैं या दोनों को मिलाने का प्रयत्न करते हैं ?

१६. आप सजावट-शृंगार की चीजों पर कितना खर्च करते हैं और स्वास्थ्य की चीजों पर कितना ?

१७ आपमे कुछ साल पहले जो बुरी आदतें थी, वे घटी है, बढी हैं या उतनी ही हैं ?

१८ आप अपने घरवालो, पडोसियों और मित्रो के गुणो पर ध्यान देते है या दोषों पर ?

१९ क्या आपको अपने में अधिक दोष और दूसरो में अधिक गुण दिखाई देते हैं ?

२०. आप दोषों से घृणा करते हैं या दोषी से ?

२१ आप ऐसे कितने काम करते हैं, जिनका आपके निजी या पारिवारिक स्वार्थो से कुछ भी सम्बन्ध नही ?

ये इक्कीस प्रश्न हैं। यदि आप इनपर चिन्तन करें, तो इक्कीस मिनट में इनका उत्तर पा सकते हैं पर बार-बार ये आपके सामने आने लगें, तो इसे आप अपनी विशेष मानसिक प्रगति का ही मान-दण्ड मान लें।



जब वे मुशायरे के कन्वीनर थे।

हमारा देश कभी राजाओं का देश था और उनके मुकुटों में जगमगाती मणियों के मापदण्ड से हमारे देश के वैभव और गौरव की नाप हुआ करती थी।

इन राजतन्त्रों का फल देश को गुलामी के रूप में मिला और लगभग एक शताब्दी के संघर्ष के फलस्वरूप हमारे देश में उस महान् प्रजातन्त्र की स्थापना हुई, जिसमें कोई राजा राजा नहीं रहा और जनता ही राजा हो गयी।

यह स्थिति ऐतिहासिक है और इसमें सन्देह की गुंजाइश नहीं, पर यह कितने आश्चर्य की बात है कि आज भी हमारे देश में इतने राजा हैं कि हम जब चाहें, उन्हें किसी भी नगर में, क़स्बे में और यहाँ तक कि छोटे-से गाँव में भी पा सकते हैं।

"आजकल हमारे देश के हर नगर, क़स्बे और यहाँ तक कि गाँव में भी राजा पाये जा सकते हैं, यह कह क्या रहे हैं आप? अरे भाई, राजा तो राजा अब तो ताल्लुक़ेदार और ज़मींदारों का भी पता मिलना मुश्किल हो रहा है इस देश में, यह सब आप कहीं नींद में तो नहीं बड़बड़ा गये हैं?"

जी हाँ, ठीक है। 'चोर को चोर, सती को सती और साधु-जती को उसी पहचाने' जैसे आप खुद निर्मल हैं, वैसे ही दूसरों को समझते हैं। गरमियों की उस रात में मकान की ऊँची छत पर सोते-सोते उठे और आगे जिधर को चल दिये। आँखें जनाब की तब खुलीं, जब छत पर से गली में आते ही गिर पड़ने का धमाका खुद आपके कानों ने सुना। घर

के लोग उठाकर लाये, डॉक्टर दौड़े, हफ्तों अस्पताल में झूला झूलकर उठे भी, तो अब इस तरह ठुमके के साथ चलते हैं, जैसे पहाड़ी लोग बिना बाजों के नाच में ताल दिया करते हैं।

आप शायद दूसरों को भी ऐसा ही समझते हैं। अरे भाई मेरे, यह ऐतिहासिक सत्य है कि अब इस देश में कोई राजा नहीं रहा और यह एक व्यावहारिक तथ्य है कि इस देश की गली-गली में राजा बसे हुए हैं। आपने वह पुराने ज़माने की कहानी तो सुनी ही होगी ?

"पुराने ज़माने की कौन-सी कहानी ? हज़ार कहानियाँ हैं आखिर पुराने ज़माने की तो !"

लीजिए, मैं सुनाता हूँ आपको वह कहानी . एक बुढ़िया थी। उसका एक बेटा था। वह बेटा भौंदू था। काम-धाम न करने की वजह से गाँव में सब उसे भौंदू ही कहा करते थे। उसकी माँ का नाम भी भौंदू की माँ पड़ गया था। एक दिन किसी बात पर गाँव के लोगों ने उसका बहुत मज़ाक़ उड़ाया। भौंदू ने अपनी माँ सेकहा : "मैं परदेश जाऊँगा माँ।" माँ ने कहा, "परदेश जाकर तू क्या करेगा मेरे बेटे ?" भौंदू बोला · "माँ मैं रोज़गार करूँगा, धन कमाऊँगा।" हँसकर माँ बोली : "तू क्या रोज़गार करेगा मेरे लाल ?" भौंदू ने कहा : "जो क़िस्मत मे होगा।"

भौंदू दूसरे दिन परदेश को चल पड़ा। चलते समय भी गाँववालों ने उसकी हँसी उड़ायी। किसी ने कहा . "भौंदू राजा बनेगा।" किसी ने कहा · "महल बनायेगा भौंदू।"

भौंदू ने किसी को जवाब नहीं दिया और चल पड़ा। चलम-चल, चलम-चल वह एक बड़े नगर में पहुँचा। यह राजा का नगर था। उसमें आज बड़ी चहल-पहल हो रही थी। भौंदू ने एक आदमी से पूछा : "भाई, आज क्या बात है ?"

उसने कहा . "इस नगर का राजा मर गया है। आज दूसरा राजा बनेगा। दोपहर को एक कबूतर राजमहल से छोड़ा जायेगा। वह उड़ता-उड़ता जिसके सिर पर बैठ जायेगा, उससे राजा की बेटी ब्याह कर लेगी

और वही राजा बनेगा।"

भोंदू को कहीं कुछ काम तो था नहीं। वह भी एक चौराहे पर खड़ा होकर यह तमाशा देखने लगा। ठीक वक्त पर प्रथा के अनुसार राजमहल से वह कबूतर छोड़ा गया। सब उसे देखने लगे। कबूतर उड़ता रहा और अचानक जब नीचे उतरा, तो उस भोंदू के ही सिर पर बैठ गया।

बस फिर क्या था, वजीरों ने उसे हाथों-हाथ उठा लिया और बाजे-गाजे के साथ महल में ले गये। राजा की बेटी ने उसके गले में माला डाली और पण्डितों ने वेद-मन्त्र पढ़कर उसे गद्दी पर बैठाया। भोंदू की सूरत ही नहीं बदली, अक्ल भी पैनी हो गयी। बड़ी चतुरता से वह राज-काज करने लगा। एक दिन वह अपनी रानी को लेकर अपने गाँव को चला। फौज-फर्रा, वजीर-उमरा, नौकर-चाकर, बाजे-गाजे सब साथ थे। गाँव में पहले ही अफसर पहुँच गये थे और सारा गाँव सजा हुआ था।

जब राजा हाथी से उतरा, तो गाँव के लोगों ने कानाफूसी करी : "अरे भाई, ये तो हमारा भोंदू है।" उसकी माँ ने कहा : "जैसी भगवान् ने हमारी किस्मत बदली, ऐसी सबकी बदले।"

तो भाई साहब, जिस तरह कबूतर के सिर पर बैठने से भोंदू राजा हो गया था, वैसे ही ये राजा हैं, जो हमारे महान् देश की गली-गली में फैले हुए हैं। बस इनमें और भोंदू में एक ही फर्क है कि भोंदू तो हो गया था किस्मत से सारी उमर का राजा और ये बेचारे अपने पुरुषार्थ से बस चार घड़ी के ही राजा हैं।

"तो भैया, ऐसे किसी राजा से हमारी भी मुलाकात कराओ। जरा हम भी तो देखें कि इन राजाओं में क्या अदाएँ हैं?"

वाह, भाई वाह, यह आपने भी एक ही कही। अरे भाई, आपसे इनकी मुलाक़ात कराने के लिए ही तो ये इतनी खरपचकें इकट्ठी कर रहा हूँ।

हमारे ही नगर के एक सज्जन हैं बाबू नानकराम। बाप-दादा शहर में चार मकान बना गये थे, आराम से बैठे उनका किराया खाते हैं।

किरायेदार भी सब नौकरीपेशा हैं। बस, दूसरी तारीख को गये, नोट गिन लाये, फिर तीस दिन की छुट्टी, पान चाबिए और बातें छौंकिए।

उनकी जिन्दगी का एक दृश्य मैंने देखा है और जब भी वे राह चलते कहीं मिल जाते हैं, तो और कुछ याद आये न आये, वह दृश्य जरूर आँखों में घूम जाता है।

दूसरा युद्ध चल रहा था और ब्रिटिश सरकार हार पर हार खा रही थी। हमारे जिले के अँगरेज कलक्टर ने जनता का ध्यान बँटाने के लिए एक मुशायरा कराया। वह चाहता था कि जनता को यह मालूम न पड़े कि इसमें सरकार का हाथ है, इसलिए उसने कमेटी में रख दिये कुछ शौकीन रईस और सयोजक बना दिया बाबू नानकराम को। यह खान-बहादुर नजीरखाँ की सिफारिश का नतीजा था, क्योंकि नानक बाबू हमेशा ही उनके अँगूठा-छाप रहे हैं।

उसी दिन बाबू नानकराम मेरे पास आये। देखते ही मुझे लगा कि आज कोई खास बात है। बात यह हुई कि रोज उनका हुलिया एक फटीचर का तामझाम रहता है। पैरो मे ऐसा सैण्डिल, जिसके तस्मे नदारद या फिर मुड़कर पंजो में दबे हुए, जो हर कदम पर सैण्डिल की सरपट ध्वनि के साथ मँजीरे की टुनक-सा ताल देते चलें। पैरो में एक पाजामा, जो साइकिल मे उलझने के कारण पाँयचों पर फटा हुआ और जिसमें कभी तो आलपीन से जोड़ लगाया हुआ, कभी गाँठ बाँधकर और कभी यों ही लपर-सप्प; रास्ते की मिट्टी से हर हालत में कृष्णमूर्ति। गले में एक कमीज, जिसमें पूरे बटन एक ही तरह के कभी किसी ने नहीं देखे, इस बारे मे मैं कसम खा सकता हूँ। उनके सिर पर चाहे उनके ही पड़बाबा की खरीदी फ़ैल्ट कैंप रहे या धोबी के घर से भूल में किसी दूसरे की आयी गान्धी कैंप, उसके चारो ओर तेल की चिकनाई का काला घेरा आवश्यक है। बात यह है कि सरसो के तेल की उपयोगिता में बाबू नानकराम का अखण्ड विश्वास है।

इसलिए मैं कहता हूँ कि उस दिन बाबू नानकराम मेरे पास आये, तो

जब वे मुशायरे के कन्वीनर थे!

मुझे लगा कि आज जरूर कोई खास बात है। पैरों में उन ऐतिहासिक यानी अजायबघरी सैण्डिलों की जगह नया टैनिश शू, ऊपर सर्ज की धारी-दार पतलून, जिसकी क्रीज कैश-लव्वैक, ऊपर उसी सर्ज का कोट, जिस पर ताजी अस्त्री बिना बोले ही बोल रही, जेब में रूमाल उसी रंग का, उसी रंग की टाई और सिर पर क़रीने से काढ़े गये बाल।

कहिए, क्या बात है बाबू नानकराम, आज तो यार, पूरे छैला हो रहे हो। आखिर बात क्या है? मैंने उन्हें देखते ही पूछा, तो बोले : "कलक्टर साहब ने बुलाया था, उनके बँगले से आ रहा हूँ।"

क्यों क्या बात है, किसी चोरी-डकैती की तफतीश में तुम्हें टटोला जा रहा है क्या? आजकल डी आई आर. (डिफैन्स आफ इण्डिया रूल्स) का जोर है, जिसे देखा दाग दिया! मैंने उनसे सहानुभूति प्रकट की, तो गर्व से बोले . "नहीं भाई साहब, जिले में किसकी हिम्मत है, जो हमसे आँख मिलाये। सब जानते हैं कि कलक्टर साहब से खास ताल्लुक़ात हैं। आज सुबह ही उनका आदमी आया था, शान से गये और मुलाक़ात की। एक मुशायरा हो रहा है। कहने लगे : 'वेल नानकराम, हमने तुम्हें उसका कन्वीनर बनाया है। हमारे पास और बहुत-सा नाम था, पर खानबहादुर ने भी तुम्हारा तारीफ़ किया और हमारा भी यही राय था। बस तुम कमेटी के मेम्बरों से मिलकर चन्दा करा लो और ऐसा मुशायरा करो कि पहले कभी न हुआ हो।' भाई साहब, यह आपका आशीर्वाद है कि बराबर साहब इसी तरह मेरी तारीफ़ें करते रहें।"

बाबू नानकराम उठकर चल पड़े और फिर लौटकर आये। कुछ याद करते-से बोले : "हाँ भाई साहब, इस मुशायरे की खबर जरा अखबार में निकलवा देना और हाँ, उसमें यह भी निकलवा दीजिए कि आपका खादिम उसका कन्वीनर बनाया गया है।"

इतना कहकर दीनता की सीमा तक पहुँची नम्रता से अभिभूत होकर वे हँसते-से बोले : "भाई साहब, कोई बात हो, और दुनिया न जाने, तो उसका होना ही क्या, जंगल में मोर नाचा, न नाचा।"

मैंने कहा : वाह, सारी उम्र मे तो एक बार आप संयोजक हुए हैं और उसकी भी खबर अखबारो मे न निकले, यह कैसे हो सकता है ?

बहुत खुश हुए और चले गये। शाम को फिर आये, उसी ठाठ में थे। बोले : "सुबह से अब तक घर नही गया। कमेटी के सब मेम्बरों से मिलकर आया हूँ। भाई साहब, मेम्बर बनने को तो हरेक का दिल उछलता है, पर काम करने को है बाबू नानकराम। और तो और, कलक्टर साहब भी कह रहे थे कि बाबू नानकराम सब ठीक-ठाक कर लेगा। ठीक है, मैं कन्वीनर हूँ, तो सब काम करूँगा ही, आखिर अपनी नाक तो नही कटवा सकता।"

कुछ ठहरकर धीरे से बाबू नानकराम बोले : "भाई साहब, एक नोटिस तो लिख दीजिए कि इस तरह एक शानदार मुशायरा होनेवाला है, सब लोग तशरीफ लायें।"

मैंने कहा : अभी तो तारीख दूर है, तीन दिन पहले छपाइएगा नोटिस। सुनकर बोले : "अजी, तीन दिन पहले दूसरा छप जायेगा। एक तो आप आज ही लिख दें।"

मैंने पूछा : छपाई का खर्चा तो पहले कमेटी से पास करा लो, तभी तो छपाओगे नोटिस ?

सुनकर बोले : "अजी, कमेटी के सिर मे मारो झाड़ू। मैं इसलिए तो कन्वीनर नही बना कि हरेक बात उनसे पूछकर करूँ और हरेक बात उनसे ही पूछनी पड़े, तो मैं कन्वीनर ही काहे का, मैं जो चाहूँगा, सो करूँगा।"

दूसरे दिन नोटिस छप गया, पर बाबू नानकराम नाराज थे। बात यह हुई कि नोटिस छपा था खानबहादुर की देख-रेख में, इसलिए कमेटी के प्रेसीडेण्ट की हैसियत से उनका नाम तो छपा शान से मोटे-मोटे अक्षरों में, पर बाबू नानकराम एक कोने में चिपका दिये गये – इस तरह कि जैसे, मकड़ी ने कोई मक्खी दबोच ली हो।

फिर भी वह नोटिस बाबू नानकराम घर-घर देते फिरे। कुछ भी हो,

उसपर उनका नाम तो था ही।

खानबहादुर इस अखाड़े के पुराने खिलाड़ी थे, इसलिए कोई भी संयोजक हो, वह उनका चपरासी ही रहेगा, यह वे जानते थे। उन्होंने सब शायरों को खत लिख दिये और सबने आना भी मंजूर कर लिया, पर बाबू नानकराम भी चूकनेवाले न थे। खत डालने डाकघर तो वे ही गये थे, सबके पते उतार लाये और उन्हें बहाने-बेबहाने खत लिखते रहे। किसी से आने की गाड़ी पूछी, तो किसी से कुछ और, सब तक अपना संयोजक पद और नाम उन्होंने पहुँचा ही दिया।

"हिन्दी में एक पोस्टर छपा दीजिए, जिसमें मेरा नाम और संयोजक पद छपा हुआ हो।" बाबू नानकराम ने मुशायरे से दो दिन पहले आकर कहा, तो मैंने आश्चर्य से पूछा: मुशायरे का पोस्टर हिन्दी में क्यों छपा रहे हो भाई? बोले: "खानबहादुर की अपनी दुनिया है, उसमें उनके पोस्टर काम करेंगे, पर मेरी दुनिया तो हिन्दीवालों की है, उसमें मेरे पोस्टर काम करेंगे। आप छाप दीजिए और भाई साहब, नीचे मेरा नाम और ओहदा जरा मोटे हर्फों में लिख दीजिएगा।"

मैंने कहा. कमेटी इसका खर्चा न देगी, तो उभरकर बोले, "आपके चरणों की कृपा से मैं भी भूखा-नंगा नहीं हूँ।" खैर पोस्टर छपा और बाबू नानकराम ने रात-भर सड़कों की सर्वे करके खुद वे पोस्टर चिपकवाये।

मुशायरे के दिन वे हरेक गाड़ी पर खुद गये और छाती पर से पल-भर को भी उन्होंने संयोजक का बिल्ला नहीं उतारा। मंच पर उन्होंने अपना प्रभाव प्रदर्शित करने में कोई कमी नहीं रखी; हालाँ कि वहाँ खानबहादुर ही सब कुछ थे, पर माइक से मुँह लगाने का कोई मौका नानकराम ने नहीं छोड़ा।

दूसरे दिन जाने क्या-क्या बघारते मुझे मिले। मैंने पूछा: आपने भी कोई नज्म पढ़ी या नहीं, तो सम्पूर्ण गौरव अपने में समाये बोले: "वहाँ जो दूसरे लोग पढ़ रहे थे, वह मैं ही तो पढ़ रहा था। भाई साहब, नज्म पढ़ना आसान है, मुशायरे का इन्तजाम करना मुश्किल है।"

इस बात को बीते वर्षों हो गये, पर आज भी वह हैण्डबिल, पोस्टर और निमन्त्रण पत्र उसकी फाइल में लगा है और अकसर वे अपने मिलने-वालों से उसका जिक्र किया करते हैं, उन्हें दिखाया करते हैं। जब-जब मेरे सामने वे अपने मुशायरे का घुमा-फिराकर जिक्र करते हैं, मैं सोचा करता हूँ कि कौन आदमी असल मे कितना ऊँचा और कितना नीचा है, इसकी एक कसौटी यह भी है कि जो अपनी जितनी छोटी बात को, जितना अधिक महत्त्व देता है, वह उतना ही छोटा है और जो जितनी बड़ी बात को, जितना कम महत्त्व देता है, वह उतना ही ऊँचा है।

बात यह है कि जो कुछ आपने किया है, उसकी कीमत दुनिया जानती है। अब आप यदि अपनी इकन्नी को गिन्नी बतायें, तो लोगो की निगाह में गिन्नीवाले तो आप हो ही नहीं सकते, इकन्नीवाले भी न रहेंगे।

चार घड़ी के राजा, जलसे के संयोजक का संक्षेप में सन्देश यह है कि डींग न मारो, क्योंकि उससे किसी पर नया प्रभाव तो पड़ता नहीं, पहले से पड़ा हुआ भी उखड़ जाता है, साथ ही अपने व्यवहार में अहंकार और प्रदर्शन को मत उभरने दो, नहीं तो चार दिन तुम्हारे व्यक्तित्व को इस तरह घायल करेंगे कि तुम्हारे व्यक्तित्व का चेहरा चेचक के दाग़ों से भर उठेगा।



जमालो दूर खड़ी

संसार ने उस दिन सभ्यता की ओर एक बड़ा पग उठाया, जिस दिन उसे आग जलाने की विद्या का पता लगा। आग न जलती, तो चूल्हा न होता, चूल्हा न होता तो भाप न बनती, भाप न होती तो इंजन न बनता, इंजन न बनता तो मशीन न बन पाती। मशीनें न बन पातीं, तो बिजली का आविष्कार न होता और बिजली का आविष्कार न होता, तो संसार हमें आज जैसा दिखाई देता है, वैसा दिखाई न देता।

इस सत्य की छाया में हम कहना चाहें, तो कह सकते हैं कि आग हमारी सभ्यता की माँ है और हमारे देश में ही नहीं, संसार-भर में भी पवित्रता का सर्वोत्तम प्रतीक है।

ठीक है, यह आग जलाने की बात है और मुझे कहनी है आग लगाने की बात, पर यह भी तो ठीक है कि बीज हो, तो पेड़ उगें। आग न जलती, तो वह लगती कैसे? कह तो रहा हूँ आपसे कि आग जली, चूल्हे बने, चूल्हे बने कि परिवार आये और परिवार आये कि समाज बना। बस समाज बना कि कलाओं ने जन्म लिया और भाई साहब, इन्हीं कलाओं में एक है आग लगाना।

अरे, यह क्या? आप यह नाक-भौं क्यों सिकोड़ रहे हैं। अच्छा, मैंने जो आग लगाने को कलाओं में सम्मिलित कर लिया, तो आप गरमा गये, पर यह है क्षेत्र विवेचना का और आरम्भ में ही समझ लीजिए कि विवेचना इस गरमी से पिघल नहीं सकती। मैं फिर से कहता हूँ, हाँ-हाँ, निश्चय ही आपको चिढ़ाने के लिए नहीं, सत्य की घोषणा को बल देने के लिए कि आग लगाना भी एक कला है और अत्यन्त पवित्र कला है।

यह लीजिए, आप फिर भड़कने को हो रहे हैं कि मैं आग लगाने को कला ही नही, बहुत पवित्र कला कह रहा हूं। मालूम होता है आप यो न मानेंगे और मुझे आपको प्राचीन साहित्य मे उतारना पड़ेगा।

पहली और सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि इस कला का आविष्कार किसी मामूली मनुष्य ने नही, एक ऋषि ने किया है।

"ऋषि ने ?"

जी हां, ऋषि ने और उनका नाम है नारद। महर्षि नारद ने इस कला का आविष्कार कर इसे राम भरोसे छोड ही नही दिया, बरसों इसका पालन-पोषण भी स्वयं ही किया। उन्होंने इस कला के सम्बन्ध में जो परीक्षण किये, उनके पात्र इस धरती के मरते-जीते मनुष्यो को ही नही, अजर-अमर देवताओं तक को बनाया और कभी-कभी तो उन्होंने देवताओ और मनुष्यों दोनों को एक ही चक्के पर रखकर घुमा दिया।

महाराजा भीम की कन्या दमयन्ती का स्वयंवर होने को था। स्वयंवर तो नाम का ही था; क्योंकि वह नल को अपना पति बनाने का बहुत पहले निश्चय कर चुकी थी। दमयन्ती रूप का लच्छा, गुणो का समुद्र और ज्ञान का स्तूप। अब महर्षि नारद बेचैन कि ऐसी असाधारण कन्या का स्वयंवर और इतनी साधारणता के साथ ? साधारणता, सरलता, इस कला के उद्धारक के लिए असह्य। जप-तप छोड नारद बाबा ने अपना इकतारा उठाया और पहुंचे स्वर्गपति इन्द्र के पास।

इन्द्र पूछने लगे कुशल-मंगल, पर नारद बाबा को कुशल-मंगल से चिढ। सोचने लगे दुनिया से दौडे स्वर्ग में आये कि चलो यही कुछ चहल-पहल मिलेगी, पर यहां तो राख भी ठण्डी है। अब क्या करें ? जिसे समय पर सूझ न हो, वह ऋषि क्या ? सूझ गयी तुरन्त एक बात और स्वर्गपति इन्द्र पर ही लगाया ऋषि ने अपना निशाना, पर निशाना लगाते किसी ने ताड लिया, तो निशाना क्या, बजरबट्टू है।

हजारो कोस घुमाकर बोले : महाराज, आपके स्वर्ग में आजकल बड़ी बेरौनकी है। बात यह है कि संसार मे युद्ध छिडे, तो लोगों को

वीरगति प्राप्त हो और वे स्वर्ग में पहुँचें, पर आजकल संसार में एक ऐसी घटना घटित हो रही है कि सब क्षत्रिय राजा उसमें उलझे हुए हैं। उन्हें लड़ने की आजकल फुरसत ही नहीं है।

इन्द्र के मन में उस घटना के सम्बन्ध में एक जिज्ञासा उत्पन्न हुई और नारद ने जिज्ञासा की उस आग को भड़का दिया अपनी चतुरता से। उपसंहार यह कि इन्द्र अब स्वयंवर में जाने को तैयार और नारद बाबा का काम सिद्ध। इन्द्र तीन अन्य देवताओं के साथ स्वयंवर में गये और वहाँ नल को दूत बनाने में जो गुल खिले, वह सब प्राचीन साहित्य में आज भी सुरक्षित है।

इस कला का कलाकार होना बहुत बड़ी बात है। इसमें यदि मनुष्य सफल हो, तो पूरी ऊँचाई पर पहुँचता है और असफल हो, तो बुरी तरह पिटता है। इस पिटाई का भी सबसे ऊँचा मानदण्ड (रेकॉर्ड) महर्षि नारद ही स्थापित कर गये हैं। बात यह हुई कि देवता और ऋषि दोनों नारद से तंग थे और नारद अपनी सफलताओं से इतराये, किसी को कुछ समझते ही न थे। तय हुआ कि नारद को एक पाठ पढ़ाया जाये।

एक स्वयंवर की रचना की गयी और नारद को बहलाकर उधर ले जाया गया। नारद उस कन्या को देखकर मुग्ध हो गये और दौड़े-दौड़े विष्णु के पास गये कि मेरा मुँह आप अपने वरदान से ऐसा कर दें कि मेरा मंगल हो। विष्णु मन ही मन मुसकराये और उन्होंने नारद का मुँह बन्दर सा बना दिया। अब नारद बाबा अपने को संसार का सबसे सुन्दर जीव समझते हुए स्वयंवर में पहुँचे और बार-बार उस लड़की के सामने इतराने लगे। लड़की उन्हें देखती और डरकर पीछे हट जाती, पर नारद बाबा मानते कि लज्जा के कारण उसने अभी ठीक-ठीक हमें देखा नहीं है। उनका विश्वास था कि देखने के बाद तो यह असम्भव ही है कि कन्या उन्हें वरमाला न पहनादे।

यों बार-बार इतराते देख किसी ने कहा कि अरे बन्दर, अपना मुँह तो देख। नारद बाबा ने जाकर कुएँ में देखा, तो तबीयत सन्न हो गयी।

इस तरह महर्षि नारद इस कला का उद्धार ही नही कर गये, अपने जीवन-भर के संस्मरणों का इतिहास भी हमारे लिए छोड गये है। और ये नारद बाबा इस धरती पर कब खिले थे इसे कम से कम मैं नही जानता, हाँ, इतना जानता हूँ कि दो हजार वर्ष पहले जब मेरे वंश के पुण्य प्रवर्तक इस ससार में थे, तब भी नारद चिर अतीत के काव्य का वैभव थे। इससे दो बातें स्पष्ट हैं कि यह कला जुमा-जुमा आठ दिन की पैदा हुई कोई टुटपूँजिया चीज नही है और इसके प्रवर्तक भी कोई ऐसे-वैसे नही, स्वयं महामहिम महर्षि नारद है। इस दशा में यदि मैं इस कला को बहुत पवित्र कहूँ, तो कुछ न दफा चवालीस तोडता हूँ, न कोई वैसा काम करता हूँ, जैसा अकसर लोग रेल के टिकिट की खिड़की पर कर दिया करते है।

विश्व के कई विख्यात समालोचकों का मत है कि कवि बनते नही, उत्पन्न होते हैं। कविता के सम्बन्ध में संसार में हजारों ग्रन्थ हैं, इसलिए उसके बारे में यह कहा जा सके या न कहा जा सके, पर इस कला के सम्बन्ध में तो कहा ही जा सकता है कि इसके कलाकार बनते नही, जन्म लेते हैं; क्योंकि अभी तक इसका न कोई व्याकरण ही बना, न छन्दशास्त्र, न परिभाषा शास्त्र, इसलिए इस कला में निष्णात होना पूर्व जन्म के पुण्य का फल है।

कविता जीवन की बहुत बडी निधि है, पर संसार में बहुत कम लोग जानते है कि कविता का जन्म आग लगाने की कला से ही हुआ था। एक तरह से काव्य-कला इस महान् कला की पुत्री है।

यह लीजिए, आप फिर भुन्नाये जा रहे है, जैसे मैंने कोई शेखचिल्ली की झक छोंक दी हो या जूता पहने वेदमन्त्र पढ दिया हो। अरे साहब, मैं पढा-लिखा आदमी हूँ और पढे-लिखों से ही बात कर रहा हूँ। किसी दृढ आधार के बिना मैं भला कोई बात कैसे कह सकता हूँ। देखिए, आदि-कवि है वाल्मीकि और यशस्वी हुए राम-चरित्र लिखकर, पर यह भी तो सोचिए कि राम को इस लायक किसने बनाया कि कोई कवि उनका चरित्र

लिखे ? सोचिए, इस प्रश्न के उत्तर में ही मेरे सत्य का भाष्य है। न होती मन्थरा, जो इस कला की पण्डिता थी और न वह कैकेयी पर अपनी कला का प्रभाव डालती, तो न राम के सिर से रखा-रखाया मुकुट उतरता, न वे वन जाते, न रावण को मारते, न काव्य का विषय बनते। अब आया आपकी समझ में कि कैसे यह कला काव्य-कला की जननी है।

इस कला की एक विशेषता यह है कि इसकी सफलता भूमिया माई के प्रसाद की तरह है कि जिसे मिल गया, मिल गया, जिसे न मिला, नहीं ही मिला—हजार सिर पटका, लाख मिन्नतें की, नहीं मिला, नहीं मिला।

जीवन का चमत्कार देखिए कि मामूली नौकरानी मन्थरा इस कला में पारंगत हो गयी और ज्ञानी, अनुभव-वृद्ध महाराजाधिराज दशरथ इसकी बारहखड़ी न पढ़ पाये।

जी, क्या पूछ रहे हैं आप कि जब यह कला आर्ष यानी ऋषि-प्रणीत है, पवित्र है, तो इसे ससार के लोग हलकी दृष्टि से क्यों देखते हैं ? प्रश्न ठीक है और मालूम होता है अब आप इसे गहराई से समझने के लिए चिन्तन के चौराहे पर आ गये हैं। विश्वास रखिए, आप अब उसकी बारीकियों को समझ लेंगे।

संसार में भले-बुरे की बहुत चर्चा है, पर ज्ञान की बात यह है कि न कुछ भला है, न बुरा है; यह सब सापेक्ष्य है। कविता बहुत पवित्र वस्तु है, पर यदि कोई पाप का प्रचार करने के लिए उसका उपयोग करे, तो वह घृणित हो जायेगी। एक बात और समझने लायक है कि ज्ञानी लोग इस दुनिया को अन्धी कहते हैं, पर मेरा विचार है कि इन ज्ञानियों को सत्य के किनारे पहुँचकर भ्रम हो गया है और ये भटक गये हैं। मैंने अपने होश-हवास में बार-बार देखा है कि यह दुनिया अन्धी नहीं, कानी है। यह प्रत्येक तथ्य और तत्त्व को एक ही तरफ़ से देखती है। कानी, 'जी हाँ, कानी; यानी एकाक्षी ! कैसे ? आइए, समझ लीजिए।

आग लगाने की कला में आचार्या श्रीमती विदुषीरत्न मन्थरादेवी के सम्बन्ध में ही देखिए। यह महाभागी नारी इस देश में जन्म न लेती, तो न वाल्मीकि होते, न तुलसीदास, पर यह दुनिया उसके कार्य में राम की माता के आँसू और राम की पत्नी के पैरों में पड़े मामूली छालों का ही दर्शन करती है। अच्छा कहिए, यह कानेपन की बात है कि गुर्दाखेपन की? नयी बात है, पर भाई साहब, मान लीजिए कि दुनिया कानी है। इस कानी दुनिया ने ही इस कला को बदनाम कर दिया है।

क्या अब भी आप इस कला के सामने सिर न झुकायेंगे! ठीक है, इसका दुरुपयोग किया गया है, पर भाई साहब, दुरुपयोग करने में तो यह दुनिया ईश्वर का भी नहीं चूकी। मेरे एक मित्र हैं। वे रेल में यदि भीड़ हो, तो इस कला का उपयोग करते हैं और लोगों को बहस में उलझाकर जगह ले लेते हैं। संस्कृत के विश्व-विख्यात ग्रन्थ पंचतन्त्र में एक भंगी की कथा है। उसका एक राजमन्त्री ने जब अपमान कर दिया, तो उसने इस कला का एक अद्भुत उपयोग किया। राजा और मन्त्री की मैत्री को पल-भर में छिन्न-भिन्न कर दिया। इस कला के ऐसे चमत्कारों की अनन्त कथाओं से हमारा साहित्य भरा पड़ा है।

"यह तो हृदयों में आग लगाने की बातें हैं। आप इसे भुस में आग लगाने की कला क्यों कहते हैं?" खूब प्रश्न है आपका। सचमुच अब तो आप इस कला की गहराइयों में उतर रहे हैं। जी, बात यह है कि भुस एक मुलायम चीज है और उसके ढेर में यदि एक तरफ आप जरा-सी चिनगारी रख दें, तो क्षण-भर में वह सारे ढेर में फैल जाती है। यही बात इस कला की है। इसमें होलियाँ या मशालें नहीं जलायी जातीं, सिर्फ एक चिनगारी खर्च की जाती है।

क्या समझे आप! आखिर यह कला है। सभी कलाओं में कलाकार की अदृश्यता को महत्त्व दिया गया है। कविता में कवि के अतिरिक्त क्या होता है, पर यदि कवि उसमें दिखाई दे, तो कविता अपने आसन से गिरकर प्रचार बन जाती है। चित्र में चित्रकार न हो, तो क्या बचता

है ? केवल रंग और काग़ज, पर चित्रकार उसमें दिखाई कहाँ देता है। कलाकार भी ईश्वर की तरह रहे और दिखाई न दे, यही कला का चरम विकास है। भुस में आग लगाने की कला में इस चरम विकास का भी चरम विकास हुआ है, इसलिए यह कला कलाओं की महारानी है।

जन-भाषा में इस कला की प्रतीक है जमालो, जिसका चरित्र नक्षेप मे इस प्रकार घर कर गया है कि भुस में आग लगा, जमालो दूर खड़ी। इस दूर खड़ी होने में, इस अदृश्यता मे ही जमालो की आचार्यता है। जमालो को अपना आदर्श मानकर आप मनोरंजन ही नहीं कर सकते, समाज सुधार भी कर सकते हैं।

कैसे ? अजी वाह, यह मोटी बात भी आप नही समझे ? मान लीजिए, कोई बूढ़ा आदमी किसी षोडशी से विवाह करना चाहता है। अब आप उससे मिलिए और कहिए कि आप यह विवाह अवश्य करें। जीवन बिना साथी के नही कटता। वह आपको अपना हमदर्द समझेगा। अब विवाह से एक दिन पहले घबराये, परेशान-से आप उसके पास जाइए और कहिए कि मुझे अभी पता चला है कि उस लड़की के पिता ने लड़की को यह समझाया है कि आपको किसी दिन जहर दे दे, जिससे सारे माल पर उसका कब्जा हो जाये। पता नही इसमें कितना सत्य है, पर वह आदमी अच्छा नहीं है इसलिए ऐसा हो तो सकता है। खैर, आप अच्छी तरह जांच-पड़ताल कर लीजिए और तब सिर पर मौर रखिए।

यकीन कीजिए, वह आदमी अब चौकी नही चढ सकता। यह है इस कला का चमत्कार! भाई साहब, आखिर यह महर्षि नारद का आविष्कार है, किसी ऐरे-गैरे अनाड़ी कुम्हार की बनायी हँडिया नही।



आप कितने विश्वसनीय हैं ?

कहानी एक ऐसी दिलचस्प चीज है कि बालक हो या बूढा; सबको भली लगती है। जीवन में ऐसी भी घडियाँ आती हैं, जब किसी काम को जी नहीं चाहता! कौन जाने इस समय आप भी ऐसी ही घडियों से गुजर रहे हो, पर हाँ, आप यह पूछना चाहेंगे कि हम चाहे ऐसी घडियो से गुजर रहे हो, जब किसी काम को जी नही चाहता और चाहे ऐसी घडियो से कि जिनमे हरेक काम वार्षिक परीक्षा की तरह आवश्यक दिखाई देता है; आप हमारी यह गैर-सरकारी जाँच-पडताल क्यो कर रहे है ?

विश्वास कीजिए मुझे आपके इस प्रश्न से खुशी होगी, क्योंकि मैं ऐसा तुनकमिजाज नही हूँ कि आपके प्रश्न से कुछ इस तरह भडक उठूँ, जैसे लाल कपडे से हमारी गोशाला का बिजार भडक उठता है। प्रश्न पूछने का अर्थ होता है कि आप मेरी बात सुन तो रहे ही हैं, उसमें दिलचस्पी भी ले रहे है।

जी, तो मैं यह कह रहा था कि जब कोई आदमी ऐसी घडियो से गुजर रहा हो कि उसका किसी काम मे जी न लगे और उससे पूछनी हो कोई जरूरी बात, तो उसका तरीका यह है कि उसे पहले कोई कहानी सुनाओ और फिर उससे यह बात पूछो। कहा नही अभी मैंने आपसे कि कहानी एक ऐसी दिलचस्प चीज है कि बालक हो या बूढा, सबको भली लगती है। अब क्योकि मुझे भी आपसे एक बातचीत करनी है, इसलिए मैं आपको पहले एक कहानी सुनाता हूँ और कहानी क्या सुनाता हूँ यो कहिए कि कहानी से ही अपनी बातचीत आरम्भ करता हूँ।

एक थे ठाकुर साहब! देहात के खाते-पीते चौधरी। घोडा रखने का

उन्हें शौक़ था और घोड़ा भी ऐसा कि उसके जोड़ का गाँव-गवांड में न निकले। सचमुच उनके घोड़े की धूम थी—लोग उसके बारे में हुई-अनहुई बातें कहा करते थे। यह बात तो आँखों देखी-सी कही जाती थी कि ठाकुर साहब उसपर पानी-भरा कटोरा हाथ पर धरे बैठ जाते हैं और वह ऐसी दुलकी नापता है कि हवा हो जाता है, पर कटोरे का पानी नहीं छलकता। एक दिन ठाकुर साहब अपने इसी घोड़े पर चढ़े चले जा रहे थे कि एक लँगड़ाता, दीन-हीन साधु उन्हें रास्ते में बैठा मिला। ठाकुर साहब को देखकर उसने कहा : मुझे अगले चौराहे तक अपने घोड़े पर बिठा लीजिए। वहाँ मुझे कोई आती-जाती सवारी मिल जायेगी, नहीं तो यहीं पड़ा-पड़ा मैं रात मे मर जाऊँगा। ठाकुर साहब को दया आ गयी और वे घोड़े की पीठ से नीचे उतर आये। सहारा देकर उन्होंने बूढ़े को घोड़े पर बिठाया, पर यह क्या? उन्होंने आश्चर्य से देखा कि वह मरता-जीता बूढ़ा घोड़े पर बैठते ही तगड़ा नौजवान हो गया और ठाकुर साहब को झटका दे, घोड़ा ले उड़ा—यह जा, वह जा।

उड़ते-उड़ते उसने कहा : "मैं आपका दोस्त विक्रम डाकू हूँ ठाकुर साहब। आपके घोड़े पर बहुत दिन से मेरी निगाह थी।"

ठाकुर साहब ने ज़ोर से पुकारकर कहा : "विक्रम, मैं राजपूत हूँ और राजपूत अपनी जान दे देता है, पर बात से नहीं हटता। मैं कह रहा हूँ कि घोड़ा तेरा हो चुका, पर मेरी एक बात सुनता जा!"

रास के इशारे पर घोड़ा खड़ा हो गया। ठाकुर साहब ने शान्तभाव से कहा : "बात बस इतनी ही है कि यह बात तुम किसी से कहना मत।" और ठाकुर साहब बिना विक्रम की तरफ़ देखे गाँव की ओर लौट पड़े। विक्रम अपने में खो-सा गया और तब ज़रा बढ़कर उसने कहा : क्यों ठाकुर साहब, मैं यह बात किसी से क्यों न कहूँ? इसमें आपका क्या फ़ायदा है?"

ठाकुर साहब ने कहा . "अगर यह बात कहीं फैल गयी, तो लोग फिर ग़रीबों का विश्वास नहीं करेंगे!" और ठाकुर साहब फिर अपनी

राह चल पड़े। विक्रम भी घोड़ा दौड़ाता किसी ओर को चला गया, पर दूसरे दिन प्रातःकाल ठाकुर साहब के साईस ने उनसे कहा : "जाने कौन कब हमारा घोड़ा हमारे अस्तबल में बांध गया है!"

आप मेरी तरफ मुँह बाये क्या देख रहे हैं, मेरी कहानी पूरी हो गयी।

"कहानी पूरी हो गयी ?" हाँ जी, कहानी पूरी हो गयी, पर उसका मतलब अभी बाक़ी है और मतलब यह है कि यदि समाज मे यह बात फैल जाये कि एक साधु, फकीर, दीन बनकर ठाकुर साहब का घोड़ा उड़ाकर ले गया, तो आज साधुता के प्रति, फकीरी के प्रति, दीनता के प्रति जो निष्कारण करुणा का भाव और विश्वास समाज में है, उसका स्थान सन्देह यानी अविश्वास ले लेगा और इस तरह साधुता, फकीरी और दीनता समाज की उन्मुक्त सेवाओं से वंचित हो जायेगी।

कहानी भी पूरी हो गयी और उसका मतलब भी, पर इस मतलब का भी एक मतलब है और वह अभी बाकी है। मतलब का मतलब यह है कि किसी वर्ग का, किसी श्रेणी का, किसी गिरोह का, एक आदमी भी यदि अविश्वसनीय हो, तो वह समाज में अपने सारे वर्ग, पूरी श्रेणी और गिरोह के प्रति अविश्वास का भाव पैदा कर सकता है।

आप कहते हैं कि मेरी बात अभी साफ नहीं हुई। मैं एक नयी कहानी सुनाकर उसे साफ कर दूँगा और वह कहानी भी क्या है, इसी शताब्दी के आरम्भिक दिनों की एक घटना है। एक गुलाम देश का विद्यार्थी जापान में पढ़ने गया। एक दिन किसी म्यूजियम से वह विद्यार्थी एक चीज चुरा लाया। यह बात किसी तरह खुल गयी। बस फिर क्या था। म्यूजियम के बाहर नोटिस लगा दिया गया कि उस गुलाम देश का कोई भी मनुष्य अब म्युजियम नहीं देख सकता।

अब समझे आप, इस एक विद्यार्थी ने अपनी अविश्वसनीयता से, अपने सारे देश को अविश्वसनीय बना दिया। तभी तो मैं कहता हूँ कि किसी समाज की, संगठन की, विश्वसनीयता के लिए यह आवश्यक है कि

उसका हर सदस्य भी विश्वसनीय हो।

हमारे भीतर लाख गुण हों, पर यदि हम विश्वसनीय नहीं हैं तो वे लाख गुण राख हैं। प्रसिद्ध समालोचक कार्लाइल ने कहा है कि जिस आदमी के बारे में आप यह कह सकते हैं कि वह विश्वसनीय नहीं है, उसके विरुद्ध और कुछ मत कहिए। दूसरे शब्दों में अविश्वसनीयता से बढ़कर चरित्र का और कोई धब्बा हो ही नहीं सकता; क्योंकि कह तो रहा हूँ इतनी देर से कि हमारी अविश्वसनीयता हमारी ही अविश्वसनीयता नहीं है, वह हमारे समाज और राष्ट्र की भी अविश्वसनीयता है।

बस इतनी बड़ी भूमिका की छाया में मैं आपसे पूछता हूँ कि आपने कभी सोचा है कि आप कितने विश्वसनीय हैं ?

"अपने दोष किसे दिखाई देते हैं ?" यह ठीक कह रहे हैं आप और आपकी यह बात भी मुझे जँचती है कि "आखिर अपनी विश्वसनीयता को कसौटी पर रखने का नियम क्या है ?" विश्वसनीयता जीवन का, हमारे चरित्र का, एक ऐसा गुण है कि हम उसे हिमालय से भारी कह सकते हैं और समुद्र से गहरा, पर वह इतना हलका भी है कि हम उसे इशारों में ही तोल लें।

महाराजा भर्तृहरि के जीवन में एक घटना घटी और उनके मन में बैठ गया कि यह दुनिया कुछ नहीं है। उन्हें ज्ञान हुआ, वैराग्य-भावना प्रबल हुई और अपना राज-पाट छोड़, वे वनों की ओर चल पड़े। वे जा रहे थे कि राह में उन्होंने देखा—एक गिन्नी पड़ी है। उन्होंने सोचा, इसे उठा लें, किसी गरीब को ही देंगे। हाथ बढ़ाया तो अँगुलियाँ लाल हो गयीं; क्योंकि वह गिन्नी नहीं, पान की पीक थी।

घटना साधारण है, पर इसने महाराज को अपनी विश्वसनीयता कसौटी पर रखने का एक गम्भीर अवसर दिया। गिन्नी राह में पड़ी है या तिजोरी में रखी है, जो आदमी अपना राज-पाट छोड़े जा रहा है, उसे उधर ध्यान देने से मतलब ?

हजरत मुहम्मद के संस्मरण संग्रह किये जा रहे थे। सुना गया कि

अमुक आदमी के पास एक अच्छा संस्मरण है।। संग्रहकर्ता लोग उसके पास गये, तो उन्होंने देखा कि वह मनुष्य अपने कुरते के पल्ले में खाली हाथ छिपाये, दूर खडी अपनी बकरी को बुला रहा है। संग्रहकर्ता विद्वानो ने यह देखा और उससे बिना मिले ही वे लौट आये।

"क्यो भला ?" ठीक जगह पर भी है और ठीक भी है आपका यह प्रश्न। उन्होने स्वयं इस प्रश्न का उत्तर दिया था कि जो आदमी खाली हाथ को झूठ-मूठ बकरी के सामने भरा हाथ दिखा सकता है, वह मूल संस्मरण में भी मिलावट कर सकता है, यह फिर प्रमाद से हो या स्वार्थ से !

वही बात कि इस छोटी-सी बात पर इस मनुष्य की विश्वसनीयता कसी गयी और खोटी उतरी। इसलिए यही आवश्यक नही है कि आप यह सोचें कि आप कितने विश्वसनीय है, यह भी जरूरी है कि आप यह जानें कि आपकी विश्वसनीयता इतनी सुकुमार और नाजुक है कि जरा-सी ठेस पाकर ही टूट सकती है।

मैं मानता हूँ कि आप बहुत होशियार है, मुझे यह स्वीकार करने में भी कोई एतराज नही कि आप अपने विषय के पण्डित है, पर धीरे से सुनिए। एक रहस्य की बात आपको सुना दूँ कि आप अपनी तमाम होशियारी और पूरा पाण्डित्य खर्च करके भी नकली विश्वसनीयता धारण नहीं कर सकते।

"क्यो ?" आपकी जिज्ञासा ठीक है और मैं उसे शान्त करने में सुख अनुभव करूँगा। बात यह है कि विश्वसनीयता पुस्तकों का ज्ञान नही है, मुकदमे की मिसिल नही है और राजनीतिक एग्रीमेण्ट नही है, जीवन का सत्य है और यह सत्य तब सत्य होता है, जब वह हमारे जीवन में हो, चरित्र में हो, स्वभाव में हो, कार्य मे हो।

हमारे देश की एक लोकगाथा में यह सत्य बहुत शक्तिशाली रूप में प्रकट हुआ है—एक बुढिया अपने जेवर और दूसरे क़ीमती सामान की पोटली कन्धे पर रखे चली जा रही थी। रास्ते में उसे एक घुडसवार मिला। बुढिया ने सरल भाव से कहा : "भैया, मैं थक गयी हूँ। तू मेरी

यह पोटली अपने घोड़े पर रख ले। मैं शाम को पड़ाव पर पहुँच, तुझसे ले लूँगी।"

"क्या है इसमें बुढ़िया माँ ?" घुड़सवार ने पूछा।

"इसमें मेरा जेवर और ऐसा ही दूसरा सामान है बेटा!" बुढ़िया ने सरलता से कहा।

"ना, बुढ़िया माँ, मैं तुझे पड़ाव पर कहाँ तलाश करता फिरूँगा; तेरा जोखिम का मामला है।" घुड़सवार ने कहा और वह आगे बढ़ गया। बढ़ते-बढ़ते उसने सोचा : "यह मड़चैल बुढ़िया और मैं हवा-से घोड़े पर सवार, कहाँ यह, कहाँ मैं। इसकी पोटली ले लूँ और चलता बनूँ।"

सोचकर वह लौटा : "बुढ़िया माँ, ला तेरी पोटली अपने घोड़े पर रख लूँ। नहीं तो तू कहेगी कि एक मदद माँगी थी, वह भी इस लड़के ने नहीं दी।"

पर बुढ़िया अब उसे अपनी पोटली देने को तैयार न हुई। झुंझलाकर घुड़सवार ने कहा : "क्यों, इतनी देर में क्या हो गया ? अभी तो तुम गिड़गिड़ा रही थी ?"

बुढ़िया ने कहा : "हुआ तो कुछ नहीं बेटा, पर बात यह है कि जो तेरे कान में कह गया, वही मेरे कान में भी कह गया।" और बुढ़िया ने अपनी पोटली उसे नहीं दी।

इस लोक-गाथा की साक्षी है कि विश्वसनीयता हमारे जीवन का कोई आवरण नहीं, आचरण है। हमें सुख हो या दु:ख, हम बढ़ें या मिट जायें, दूसरों का, परिवारवालों का, पड़ोसियों का, देशवासियों का और संसार के समस्त नागरिकों का हमारे प्रति जो सहज विश्वास है, हम उसे खण्डित न होने देंगे, हमारा यह निर्णय ही हमारी विश्वसनीयता का प्राण है। वह कोई अभिनय नहीं है कि हम उसे अभ्यास से प्रदर्शित कर सकें। वह हमारे जीवन का दीपक है, जो कागजों और दीवारों पर चित्रित होकर नहीं, स्वयं जलकर ही रोशनी देता है।

आपके एक बड़े भाई हैं और एक भाभी। दोनों में मतभेद है, मन-मुटाव है। भाई आपसे भाभी के सम्बन्ध में कुछ कहता है और भाभी भाई के बारे में कुछ कहती है। क्या आप इन दो 'कुछ' को अलग-अलग रख सकते हैं ? यदि हाँ, तो आप विश्वसनीय हैं और नहीं तो अविश्वसनीय ! क्या आपको दूसरों के पत्र पढ़ने की, छिपकर बातें सुन लेने की, बेचैनी होती है ? यदि हाँ, तो यह आपकी अविश्वसनीयता का पक्का प्रमाण है।

अपने वादों के सम्बन्ध में आपका क्या हाल है ? क्या दावतों में, जलसों में, आप ठीक समय से पहुँचते हैं ? नियत समय पर आप मित्रों को घर मिलते है ? वादा विश्वसनीयता की सबसे बड़ी कसौटी है !

आप अपने मित्र से माँगकर एक पुस्तक लाये हैं ? क्या कभी ऐसा हुआ है कि वह अपने घर नहीं लौट सकी ? यदि हाँ, तो आप सौ प्रतिशत अविश्वसनीय हैं। आप एक लाख बहाने बनाये, सत्य यही है कि जब आपका एक पुस्तक के लिए भी विश्वास नहीं किया जा सकता, तो कोई राष्ट्रीय धरोहर आपको कैसे सौंपी जा सकती है ?

आपने अपने किसी साथी का फाउण्टेनपेन उड़ाया है ? आपकी राय में यह मामूली बात है, पर सच यह है कि जो आदमी फाउण्टेनपेन चुरा सकता है, वह कोहनूर को कैसे छोड़ देगा ?

मैं समझता हूँ कि मेरी बात-चीत पूरी हो गयी, पर लीजिए बात पूरी करते-करते भी आपको एक कहानी और सुनाये देता हूँ।

प्रेसीडेण्ट अब्राहम लिंकन को अपने लिए एक सहायक की आवश्यकता थी। प्रेसीडेण्ट ने सब उम्मीदवारों को एक दिन अपने दफ्तर में बुलाया और दरवाजे के पास रास्ते में एक पुस्तक डाल दी। कोई बीस उम्मीदवार थे। भड़भड़ी के साथ दफ्तर मे वे आये और पुस्तक को कुचलते हुए प्रेसीडेण्ड की मेज तक पहुँचे। हरेक अपनी बात कहने को बेचैन था और कह रहा था।

इनमें एक उम्मीदवार, जो उम्र और ज्ञान दोनों मे ही सबसे कम

था, सबके बाद दफ़्तर में आया। उसने उस पुस्तक को उठाकर रूमाल से साफ़ किया और प्रेसीडेण्ट की मेज़ पर रख एक तरफ़ खड़ा हो गया। जब सब अपनी-अपनी बात कह चुके, तो प्रेसीडेण्ट से पूछकर, संक्षेप में, धीरे से उसने अपनी बात कही। बात सुनकर प्रेसीडेण्ट ने हाथों-हाथ उसे अपना सहायक बना लिया।

दूसरे उम्मीदवारों ने इसपर एतराज़ किया कि आप एक कम-उम्र, कम-अनुभव, कम-योग्य आदमी को रख रहे हैं। प्रेसीडेण्ट ने कहा : "मैं आपकी उम्र, आपके अनुभव और आपके प्रमाणपत्रों को लेकर क्या करूँ; मुझे तो एक सहायक की आवश्यकता है। इस युवक ने अपने व्यवहार से सिद्ध कर दिया है कि इसे अपने से ज्यादा मेरी चिन्ता है और मैं इसका पूरी तरह विश्वास कर सकता हूँ।"

विश्वास दिलाया नहीं जाता, उत्पन्न किया जाता है। वह क़समों से उत्पन्न नहीं होता, आचरण और व्यवहार से पनपता है। विश्वसनीय होना ही विश्वास दिलाने की सबसे बड़ी तरकीब है।



वे घटनाएँ और यह घटना

बहुत दिन की बात है। कूर्मांचल प्रदेश की यात्रा में मैं एक अवसर-प्राप्त तहसीलदार के घर अतिथि हुआ। उनका परिवार तो ऊपर पहाड़ी गाँव में था, पर वे अकेले नीचे कस्बे में रहते थे। मेरी नस-नस में पारिवारिक रस की भावना है, इसलिए मुझे यह अद्भुत-सा लगा, पर भोजन के समय जो कुछ हुआ, उसने मेरे लिए इस अद्भुत को करुण कर दिया।

"आइए भोजन कर लें, फिर गप-शप करेंगे!" मैं उनके साथ भोजन के कमरे में गया, तो देखा : मेरा थाल एक छोटी मेज पर रखा है और उनका नीचे जमीन पर। उनके दोनो तरफ दो छोटी थालियों मे भी खाना है, पर हमारे-जैसा नही। मन में प्रश्न उमड़े, पर प्रतीक्षा ही मैंने ठीक समझी। अपने आसन पर बैठते ही तहसीलदार ने जोर से पुकारा : पार्टनर, कमौन! मैंने देखा, झपटा-झपटा दुम हिलाता एक सुन्दर कुत्ता आकर उनके दायें हाथ बैठ गया। उन्होने दूसरी पुकार दी : कमौन कामरेड! मैंने देखा, अपने में सिमटा-सा एक शिकारी कुत्ता आकर उनके बायें हाथ बैठ गया और ज्यो ही तहसीलदार ने खाना शुरू किया कि वे दोनों भी खाने लगे।

मेरे मन में इस सम्बन्ध मे भावना की कुछ काली-गोरी, भली-बुरी रेखाएँ खिची, पर उनसे कोई चित्र न बन पाया। रात को गप-शप मे जब हम अधिक परिचित हो गये, तो भीतर की रेखाएँ जरा उभर आयी : "तहसीलदार साहब, आपके ये पार्टनर और कामरेड तो खूब हैं!" हँसी में आरम्भ हुई यह बात, कुछ पलो में ही, वेदना मे डूब गयी, जब उन्होने कहा : "भाई साहब, मेरी देह पर जितने रोम हैं, मनुष्यो के

विश्वासघातों से हुए, उतने ही घाव मेरे मन पर हैं। ये कुत्ते हैं, खाते-पीते हैं, पर कम से कम विश्वासघात तो नहीं करते !" यह सुनकर मैं इतना स्तब्ध हो गया कि कुछ घड़ियों तक उनकी ओर न देख सका।

तहसीलदार अपने कमरे में सोने गये और मैं अपने विचारों में खो गया। ओह ! क्या सचमुच मानव के लिए मानव अविश्वसनीय है ? यह बूढ़ा आदमी, घर से दूर यहाँ रहता है और समाज में हर तरह साधन-सम्पन्न होकर भी इतना दीन कि इन कुत्तों से ही अपनी सामाजिकता की प्यास बुझाता है ! जाने कितनी घटनाएँ हैं, जिनका कड़वा विष इस मानव के मन की परिधि को घेरकर बैठ गया है। यह जिधर देखता है, विष ही विष है। तो क्या मानव में देवत्व केवल कवियों की कल्पना ही है और असल में वह शुद्ध शैतान है—सबके लिए खतरनाक और अविश्वसनीय ? ओह, तब यह जो मानव में विश्वास की देव-भावना है, यह एक मृग-तृष्णा ही है; और कुछ नहीं—बस और कुछ भी नहीं !

मुझे लगा कि मैं काँटों में घिर गया हूँ। यह अनुभूति इतनी उग्र थी कि मैं अपने पलंग पर उठ बैठा। चाँदनी रात, खुली खिड़की और शान्त पहाड़। मैं वहाँ हूँ भी और नहीं भी। खिड़की पर कोहनियाँ टेके मैं बैठा हूँ, मेरे सिर पर ठण्डी चाँदनी है, घरों, सड़कों, पर्वतों पर चाँदनी है; मैं उसे देख रहा हूँ; पर क्या सचमुच मैं उसे देख रहा हूँ।

मैं तो असल में इस समय अपने भीतर देख रहा हूँ जहाँ बिखरे पड़े हैं मेरे ही जीवन के कई पन्ने, जिन पर लिखी हैं कई बीती घटनाएँ और वे कह रही हैं मुझसे कि यह देवत्व तेरे मन का भूत है; और कुछ नहीं, अरे और कुछ भी तो नहीं।

एक ग़रीब मुसलमान साथी मेरे पास आया और मन पर बोझ इतना कि कुछ भी कहने से पहले रो पड़ा। बात यह हुई कि उसके लड़के की शादी, पर उसके पास कुछ नहीं। भाई ने सब कुछ करने का भरोसा दे रखा था, किसी बात पर नाराज़ हो, वह हट गया। विवाह सिर पर

और बहू के लिए जोड़ा नहीं; विरादरी में नाक कटने का सवाल; क्या करे बेचारा ?

मेरी हालत यह कि मैं उसे एक भी पैसा देने में असमर्थ, पर उसकी माँग इतनी उचित कि इनकार करने की मुझमें ताकत नहीं। साथ गया और पैंतीस रुपये का कपड़ा एक मित्र दूकानदार के यहाँ से उसे ले दिया। महीने तीन बीत गये, पर रुपये न दे पाया। दूकानदार ने नालिश कर दी, अदालत ने निर्णय दिया कि चार रुपये मासिक की किश्तों में मैं रुपया दे दूँ। मैं खुश हुआ उस समय, पर वे किश्तें भी न दे पाया। उन दिनों एक सार्वजनिक संस्था की रक्षा के प्रण पर मैं खून का फाग खेल रहा था। एक दिन गया और बजाज बन्धु से अपनी स्थिति कह आया, पर दूसरे ही दिन उन्होंने मेरी दीवानी वारण्ट निकलवा दिया। अब मैं अपने ही घर में कैद और परिस्थितियाँ यह कि मैं हर समय हवा के घोड़े पर सवार रहूँ। कई मित्रों को पास बुलाकर प्रार्थना की कि वे मेरी ओर से पैंतीस रुपये दे दें या मुझे तीन-चार मास का समय दिला दें, पर कोई लौटकर न आया, यद्यपि सभी ने आश्वासन दिया था। इन सभी के लिए एक सार्वजनिक कार्यकर्ता साथी की सम्पूर्ण सामाजिक प्रतिष्ठा का मूल्य पैंतीस रुपये से कम था। इनमें कई ऐसे थे, जो चिड़ी-मारों से चिड़ियें छुड़ाने मे इससे अधिक रुपये कई बार दे चुके थे।

इस घटना में हमारी समाज-व्यवस्था के दो अत्यन्त मर्मस्पर्शी व्यग्य-चित्र हैं। पहला यह कि ये बजाज बन्धु मुझे जेल भेजकर मेरे खर्चे के तौर पर और पैंतीस रुपये देने को तैयार थे, पर उन पैंतीस रुपयों को छोड़ने या कुछ दिन बाद वसूल कर लेने को तैयार न थे। दूसरा यह कि जो मित्र उस दिन मेरी प्रार्थना पर पैंतीस रुपये अपनी जेब से बाहर न कर पाये, वे बाद में मेरे इशारे पर पैंतीस सौ रुपये देने को प्रस्तुत रहे; क्योंकि मैं तब उन घड़ियों को पार कर चुका था।

शाम को जेब के सब रुपये समाप्त हुए और रात में पत्नी का हार्टफ़ेल हो गया। दाह-संस्कार के लिए भी जेब में पैसा नहीं। आदमी को अपने

एक मित्र के यहाँ भेजा कि पचीस रुपये ले आये।

मेरे आदमी को मित्र ने उत्तर दिया : "मैं इस समय मजबूर हूँ। रुपयों का प्रबन्ध कहीं और से कर लें।" ये मित्र रईस, बैंकर, मजिस्ट्रेट, जमींदार और देश-भक्त और वह पत्नी, जो अब एक शव के रूप में पृथ्वी पर सो रही है, इनकी प्रतिष्ठा के लिए एक दिन कचहरी में झूठी गवाही दे आयी!

पत्नी की चिता का प्रबन्ध तो हो ही गया, पर मुझे लगा कि हम मनुष्यता की चिता का ही प्रबन्ध कर रहे हैं।

"बस एक ही रास्ता है पण्डित जी! कि आपके जामिन उस दिन ग़ैर-हाजिर रहें।"

एक राष्ट्रीय संस्था की सम्पत्ति को एक साहूकार ने नीलाम कराने के लिए कुड़क करा रखा था और इसी संस्था के एक वैतनिक कार्यकर्ता, इस कुड़की के जामिन (सुपुर्दगीदार) थे। नीलाम की तारीख आ गयी थी, पर रुपयों का अभी प्रबन्ध न था। ये जामिन महोदय, मेरे उस समय के शिष्य थे, जब मैं अध्यापक था और आज के कर्मचारी थे; जब मैं संस्था का संचालक—किसी भी आर्थिक कारण से नहीं, सार्वजनिक सेवा की उग्र भावना का शिकार होकर ही! उन्हें ग़ैर-हाजिर करना एक साधारण बात थी, इसलिए जब वकील ने उनकी ग़ैर-हाजिरी को ही एक रास्ता बताया, तो मुझे लगा कि यह रास्ता काफी चौड़ा भी है और सरल भी।

मैंने काग़जी तौर पर उन्हें संस्था से छुट्टी दे दी और उनके गाँव के पासवाले अस्पताल में डॉक्टर से मिलकर उन्हें बीमार लिखवा दिया। बिना वहाँ गये ही एक सप्ताह पहले से उनकी हाजिरी बीमारों में लिखी जाती और दवा बनती। कचहरी के चपरासी से मिलकर नीलाम की सूचना पर लिखा दिया था कि जामिन छुट्टी पर हैं और उसका कोई पता नहीं चलता। अब वे कानूनी तौर पर सुरक्षित थे और मैं निश्चिन्त था,

पर नीलाम से पहली रात मे ठीक साढे बारह बजे वे मेरे पास आये, यह सूचना देने को कि वे कल गैर-हाज़िर न होंगे और यहीं रहेंगे। यह सूचना बारह घण्टे बाद संस्था के सर्वनाश की घोषणा थी! इसका स्पष्ट अर्थ था कि वे साहूकार से मिल गये थे और कल ही संस्था के कर्मचारी से स्वामी हो जाने का स्वप्न उनकी आँखों में था! एक साथ वे मेरी गुरु-दक्षिणा और संस्था के सद्भाव का प्रतिदान देने को प्रस्तुत थे!

खेद है कि दूसरे दिन सब कुछ करके भी वे सफल न हुए, पर सुना है शैतान ने उस दिन स्वर्ग में अपनी विजय-घोषणा करके देवताओ को दहला दिया था!

सडको, घरो और पहाडो पर चाँदनी फैली हुई है और मैं खिडकी पर कुहनियाँ टेक बाहर की ओर देख रहा हूँ, पर दीख कुछ नही रहा है। देखनेवाला ही कही और है, तो दीखेगा क्या? मैं जीवन के पुराने पन्ने पढ रहा हूँ। ये पन्ने इतने कडवे है कि चाँदनी भी कडवी हो गयी है। मैं सोच रहा हूँ कौन है यहाँ अपना? कोई नही है, तो क्या हम तहसील-दार की तरह कुत्तो को अपना साथी बनायें? अनुभूति की कडवाहट से मेरा रोम-रोम कडवा हो चला है और मैं अपने से पूछ रहा हूँ: आखिर इन घडियो में जरूरत ही क्या है कि हम जियें? जिनके साथ हम जीते हैं, जब वे भी विश्वसनीय नही तो फिर जीवन का सुख क्या है? तब जीवन धन कहाँ है कि हम उसे सँजोकर रखें। तब तो जीवन एक जहर है, जिसे हम जब भी नष्ट कर दें, तभी ठीक है।

मुझे लगा कि सामने ही पहाड पर खडा है जूलियस सीज़र। एक दिन उससे किसी ने कहा: "अमुक अशुभ दिन आ रहा है।" उसने कहा: "हिस्त!" इस एक ही शब्द ने उसके आत्मविश्वास की आदमकद मूर्ति है। फिर एक दिन उससे कहा गया: "आज वही अशुभ दिन है।" सीज़र ने सिर्फ़ उसकी ओर तिरछी आँख से देख-भर लिया, ओह, यह

तिरछी आँख ।

उसी दिन वह अपनी पार्लमेण्ट की ओर चला, तो किसी ने उसके हाथ में परचा दिया। बिना पढ़े ही उसने उसे जेब मे डाल लिया — इस परचे में उसके वध के लिए रचे गये षड्यन्त्र की सूचना थी। वह पार्लमेण्ट में पहुँचा कि लोग उनपर चारों ओर से टूट पड़े, पर सीजर के लिए यह एक खेल था। उसने किसी की तलवार छीन ली और घेरने-सा लगा। तभी उसपर किसी ने पीछे से वार किया। मुड़कर जो सीजर ने देखा, तो उसका पुराना मित्र ब्रूटस !

एक हाय की तरह सीजर के मुँह से निकला "ओह, ब्रूटस, तुम भी !" तभी उसने कन्धो से जमीन तक लटकते शाही चोगे को दायें हाथ के झटके से अपने सिर तक लपेट दिया और धम्म से वह जमीन पर गिर पड़ा। ठीक है, जब मित्र ब्रूटस भी षड्यन्त्र में शामिल है, तो सीजर क्यों लड़े ? लड़ने का अर्थ है जीवन और जीवन की अब जरूरत ही क्या है ?

मेरा मन हुआ कि सीजर की तरह ही मैं भी इस खिड़की से नीचे गिर पड़ूँ। ठीक तो है, जब वे अपने नहीं, जिनके उद्धार के लिए अपनी जवानी धूल में मिला दी और बच्चो को भूखा मारा, जब वह अपना नहीं, जिसके लिए जीवन-भर के सचित पुण्य की ढेरी में अपने हाथों आग लगा दी और जब वह अपना नहीं, जिसे पढ़ाया-लिखाया और प्यार से अपने पास रखा, तो जीकर मैं क्या करूँ ?

मन इतना थक गया कि खिड़की से पलंग पर आ गिरा मैं। अब मैं जाग रहा था, पर गहरी नींद से भी अधिक निश्चेष्ट। सब इन्द्रियो पर शून्यता का परदा-सा पड़ गया था। अचानक एक फुरहरी-सी आयी और जीवन का एक पुराना पन्ना आँखों के सामने खुल गया; जैसे टेलिफोन एक्सचेंज बत्तीस नम्बर की जगह बासठ नम्बर दे दे !

उसी राष्ट्रीय संस्था के नीलाम की तारीख थी उस दिन भी। कई साहूकार उसपर आक्रमण कर रहे थे — कभी कोई चढता, तो कभी कोई। परम्परा यह थी कि नीलाम की तारीख से एक दिन पहले कर्ज का एक अंश दाखिल कर अदालत से कुछ दिन की मोहलत मिल जाती, पर उस बार यह नयी बात हुई कि कर्ज के उस छोटे अंश का भी प्रबन्ध न हो पाया। ओह, कितने हाथ-पैर मारे मैंने इसके लिए!

नियत तारीख से पहली सन्ध्या को, मैं पूरी तरह निराश हो गया कि अब रुपया नही जुट सकता और इसका अर्थ था कि जिस नीलाम को मैं दो सालों से टाल रहा हूँ, कल उससे भेंट करनी ही पडेगी। नीलाम के बाद भी मैं रुपया देकर उसे वापस ले सकता था, पर तब मेरे पैरो में यह ताकत ही कहाँ रहेगी कि मैं शहर की सडको पर घूम सकूँ?

मेरी घबराहट की दवा है प्रार्थना। उठकर मन्दिर में गया और लौटा, तो मन शान्त था। अब मेरी दशा यह थी : भगवान् की यदि यही इच्छा है कि दुनिया एक बार डोण्डी सुन ले, तो उसे तू कौन है कि रोके? और तब मैंने अपने से कहा मेरे भगवान् की इच्छा पूर्ण हो।

रात मे पूरी नीद आयी। सुबह उठकर नहाया, प्रार्थना की और दफ्तर में आ बैठा। सब कर्मचारी मेरी दृढता पर स्तब्ध थे। नीलाम का समय हो गया — बारह बज गये। अब आ रहा होगा ताँगा, जिसमें पीछे की तरफ होगे अमीन साहब और साहूकार का कारिन्दा और आगे की तरफ अमीन का चपरासी और साहूकार का चौकीदार। वे आकर खडे होंगे। भीड जुड जायेगी और नीलाम की बोलियाँ आरम्भ होंगी। कितने रुपये देने है इस साहूकार के? छह-सौ अस्सी रुपये। जिस संस्था ने देश में जागृति फैलाने के अपराध में विदेशी सरकार से त्रास सहा, देश के एक लखपति की दृष्टि में उसका इतना भी मूल्य नही कि अपने छह-सौ अस्सी रुपयो की वसूली वह एक साल के लिए रोक दे? यह प्रश्न आज भी समाज-व्यवस्था पर कितनी तेज रोशनी है!

एक का घण्टा बजा, पर ताँगा नही आया। पाँच बजे तक कभी भी

आ सकता है। मैं अपने काम में जुटा हूँ और कर्मचारी मुझे घूर रहे हैं। एक-दो ने चाहा कि यदि यह दुर्भाग्य सिर पर आ ही गया है, तो मैं यहाँ से हट जाऊँ। उनकी करुणा का तकाजा था कि मैं अपना सर्वनाश अपनी आँखों न देखूँ, पर मैं अपनी जगह था और मुझे अपनी ही जगह रहना था। कर्मचारी आज भी काम पर थे, पर काम उनसे हो न रहा था। उनकी सबसे बड़ी परेशानी मैं था। वे दो साल से एक 'धुन' के लिए अपने को झोंक देने की मेरी पागल भावुकता को देखते आ रहे थे। उन्हें आज का नीलाम मेरी आत्महत्या का प्राक्कथन दीख रहा था।

चार बज गये। मैंने चपरासी को पैसे दिये कि आठ-दस पान ले आये और पत्नी से कहलाया कि चाय का पानी रख दे। अब ताँगा आने में देर ही कितनी थी! पान आ गये, चाय तैयार हो गयी और पाँच बज गये, पर ताँगा नहीं आया। घड़ी शायद ग़लत है, पर बैंक की घड़ी में भी पाँच बज गये।

तो फिर? कर्मचारियों के चेहरे पर न खुशी, न रंज। वे साक्षात् एक प्रश्न-चिह्न। वे दस-बारह प्रश्न-चिह्न मेरे सामने, पर मैं स्वयं एक प्रश्न-चिह्न · "आखिर यह हुआ क्या?" दस-बारह मिनट और निकल गये—ताँगा अब नहीं आ सकता! मेरे रोम-रोम पर गम्भीरता छा गयी। पत्नी ने हम सबको चाय पिलायी, पान दिये। दफ्तर की छुट्टी हुई। कल रविवार है, परसों होगा, जो होना है, पर आज यह क्या हुआ? डायरी देखो, नीलाम की तारीख आज ही है।

उठकर अपने वकील के घर गया, पर वे किसी बारात में चले गये थे। अमीन के यहाँ पहुँचा, तो और भी उलझ गया। उन्होंने कहा: "कचहरी से ग्यारह बजे दस्ती परवाना आ गया था कि नीलाम मुल्तवी कर दिया गया है।" यह और भी बड़ा प्रश्न-चिह्न है कि नीलाम किसने मुल्तवी कराया और बिना रुपये जमा किये वह हो कैसे गया?

"नीलाम मुल्तवी कैसे हो गया अमीन साहब?" मैंने पूछा तो बोले: "अरे साहब, आपने पचास रुपये जो दाखिल किये थे!"

"मैं गारे से निकला, तो चवच्चे में धँस गया—मैंने कब किये थे पचास रुपये दाखिल ? बहस बेकार थी, घर चला आया। अब मैं बेचैन था—बेचैन यानी उत्सुक। रात-भर अजीब-अजीब सपने दीखे और रविवार को किसी काम में जी न लगा।"

सोमवार को कचहरी पहुँचा, तो एक अजीब बात कि हरेक अहलकार हँसकर पूछता है : "कहिए, कल आपका नीलाम हो गया ?" सबके चेहरो पर वही हँसी और सबका यही सवाल ? जाला हरेक बुन रहा है, पर रास्ता कोई नही देता !

अन्त में यह तुरुप खुली : जब आप कल सुबह भी मोहलत लेने नहीं आये, तो हमने समझा कि आप भूल गये या फिर आप यहाँ है ही नही। हम जानते है बिना स्वार्थ आप इस सस्था को बचाने में खप रहे हैं। हमने आपस में पाँच-पाँच, सात-सात रुपये जमा करके आपके वकील से मोहलत की दरख्वास्त दिला दी और चपरासी के हाथ दस्ती परवाना अमीन के घर भेज दिया।"

हमारे देश की कचहरियो के इतिहास में यह असाधारण और अपूर्व घटना है, पर मेरे लिए तो जीवन का यह सबसे बडा प्रश्न-चिह्न थी ! हम राजनीतिक कार्यकर्ता, जिन्हें कचहरी का कुत्ता कहकर सदैव सभाओ और पत्रों में अपमानित करते रहे हैं और हमारी राय में आठ आने से सवा रुपये तक की रिश्वत ही जिनका धर्म-ईमान है, कचहरी के उन छोटे अहलकारो में यह देवत्व कैसे जाग उठा ?

पलंग से मैं फिर खिडकी पर आ गया। घरो, रास्तो, सडको और पहाडों पर चाँदनी छिटकी हुई थी। मुझे लगा कि उसमें ठण्डक है, मिठास है, शान्ति है – कडवाहट तो कहीं दूर-पास भी नही है !

तभी जैसे चाँद ने मुझसे कहा : "मनुष्य में देवता भी रहता है और दानव भी। देवता की प्राण-प्रतिष्ठा और दानव का दलन करने के लिए संघर्ष करना ही मानव-जीवन है।"

चाँद हँस रहा था। मैं भी हँस पड़ा। पलंग पर लेटते-लेटते मैंने अपने से कहा : "तहसीलदार के कुत्ते दुनिया के एक कोने के खण्ड-चित्र हैं, सम्पूर्ण संसार के पूर्ण चित्र नहीं !" और मैं ऐसा सोया कि मौत भी झेंप गयी !



वे खुश हैं; मैं खुश हूँ !

उगती पीढी के उपन्यासकार हैं श्री योगेश गुप्त । वाणी और कलम दोनों में कांटेदार । हाँ, कांटे पैने और मजबूत कि चुभें, तो यों उचेड़ें कि लहू-लुहान हो जायें, पर मकसद यह कि ठहरो मत, चले चलो, तो चलतों को रोकते नहीं, रुकतों को चलाते हैं ये कांटे ।

उन्हीं के उपन्यास 'थकी साँसें' का विज्ञापन पढा, तो गद्दी पर बैठे-बैठे ही कांटे देह में चुभ गये । कितना बडा कांटा है यह, कितना पैना, खूनी खूंखार : "हर आदमी किसी न किसी के सिर पर पैर रखे खडा है और जी रहा है । जीने की उसे भी कुछ खुशी नहीं है, खुशी है, तो इस बात को कि कोई उसके पैरों के नीचे है । कोई भी उसके पैरों के नीचे न होता, तो वह मर जाता । यही अमानुषिक आनन्द आज जीवन और जगत् का अभिशाप है ।"

कांटा बड़ा पैना है, पर कलेजे में कुछ इस अदा से घुसा है कि दर्द तो गहरा, पर कराह नहीं है — एक मीठी-भीनी सिहरन है; यों कहूँ कि शब्द तो नहीं है, पर गूँज है, गीत तो नहीं है, पर आलाप है, ताल तो नहीं है, पर सम है, धूप तो नहीं है, पर धूप-छाँह है, रंगीनी नहीं है, पर एक झिलमिलाहट है । ओह रे, यह कांटा !

मीठी चुभन में एक भाव-भीनी धुन उठ रही है, उसमें तीन शब्द हैं : सत्, चित्, आनन्द ! सत् है अस्तित्व, चित् है कृतित्व और आनन्द है व्यक्तित्व, यों सच्चिदानन्द यानी नर-नारायण के स्वरूप की पूरी झांकी, तो आनन्द ही मनुष्य की मूल-वृत्ति है । भोजन से वह जीता है, वस्त्र से सजता है, पर खिलता है आनन्द से — जीवन में आनन्द न हो, तो जीवन

का विकास रुक जाय कि वह बिना गन्ध का फूल, कि वह बिना वाणी का कण्ठ, कि वह बिना फूल का वृक्ष, कि वह बिना पानी का ताल—शिव नहीं शव !

उफ ! तेज दर्द कि कलेजा फट जायेगा—लगता है, चुभा काँटा गहरे उतर गया है और उसने पसलियाँ काट दी हैं : "कोई भी उसके पैरों के नीचे न होता तो वह मर जाता। यही अमानुषिक आनन्द आज जीवन और जगत् का अभिशाप है।"

अमानुषिक आनन्द ! आनन्द और अमानुषिक ? अमानुषिक आनन्द क्या ? जो मानुषिक न हो ! जो मानुषिक नहीं, वह आसुरी, पाशविक, तो हम जी रहे हैं एक पाशविक आनन्द के मायाचक्र में ? पाशविक आनन्द, तो पाशविक व्यक्तित्व कि हम नर से नारायण बनते-बनते पशु हो गये ? कितनी भयानक स्वीकृति चाहता है मुझसे यह प्रश्न ?

यह किसकी चीख-चिल्लाहट है, जो कानों को फाड़े डाल रही है ? यह है मेरे बचपन की पड़ोसन मगला चाची। गुस्सा तो सभी में होता है, पर चाची का गुस्सा तो ज्वालामुखी। उसका छोटा बेटा नन्दू—पाँच वर्ष का सुकुमार, सलोना, होनहार। एक दिन चाची ने कुछ कहा, तो नन्दू न माना। वह चीखी-चिल्लायी, पर नन्दू अड़ा सो अड़ा—आखिर बालहठ ! चाची तड़ककर उठी और धमाक से उसने नन्दू की कमर पर धौल धर दी ! कहाँ नन्दू, कहाँ चाची; वह धम्म से धरती पर औंधा गिर पड़ा।

चाची गरजी . "बोल, फिर कहेगा : ना।"

चाची दहाड़ी · "तो ले बोल, देखूँ कैसे कहता है तू नहीं।" और औंधे पड़े नन्दू की कमर पर अपने दोनों पैर पूरे रख खड़ी हो गयी। नन्दू एक बार चीखा और चुप हो गया। चाची ने उसे मसला · "कहता क्यों नहीं अब ना।" नन्दू नहीं बोला। बोलनेवाली हवा उसमें थी ही कहाँ अब ?

दहाड़ती चाची के पास यह लाल-लाल कौन है ? यह सिन्दूर-लिप्त हनुमान् की मूर्ति है। और यह इनके पैरो में कौन है ? यह है सुरसा राक्षसी, जिसने लंका जाते समय उनका मार्ग रोकने की कोशिश की थी।

मंगला चाची अपने बेटे को पैरो तले दबाये खड़ी और हनुमान् जी सुरसा को पैरो दबाये खड़े। चाची क्रोध के आवेग में अभिभूत, तो हनुमान् जी अजेय संकल्प से सन्नद्ध; चाची क्षम्य, तो हनुमान् जी पूज्य, पर हम क्या हैं कि हमारा सिर किसी के पैरो दबा, तो किसी का सिर हमारे पैरो के नीचे ?

१९३२ की जेल यात्रा से छूटकर आया, मन गान्धी जी के हरिजन उपवास के वातावरण से ओतप्रोत। दो-चार दिन प्रयत्न करके एक हरिजन पाठशाला खोली और चमारो के मुहल्ले में चार दिन घूमकर साठ लड़के इकट्ठे किये। पाठशाला चहक उठी, जी को सुख मिला और तब एक दिन भंगियों के मुहल्ले में जा बैठा। "बाबू जी बड़े बच्चों को पढ़ने भेज दें, तो छोटे बच्चों को कौन सँभालें और छोटे बच्चो को वे न सँभालें, तो उनके माँ-बाप, अपने घरो में कमाने कैसे जायें ?" चौधरी घसीटा की यह बात सुनी, तो उस दिन पहली बार जाना कि समाज में वे भी है, जिनके लिए पढ़ना लाभदायक है, पर वे भी है जिनके लिए न पढ़ना ही लाभदायक है। फिर भी सात बालक निकले, जो पाठशाला आया करेंगे। शुभस्य शीघ्रम्, मैं उन्हें साथ ले आया और पाठशाला में उनका नाम लिखा दिया।

"आज पाठशाला में सात ही लड़के आये हैं।" अध्यापक जी ने आकर सूचना दी दूसरे दिन।

"सात या साठ ?" आश्चर्य से मैंने पूछा, तो उत्तर मिला : "साठ नहीं, सात ! चमारों का तो आज कोई बालक आया नहीं।"

दूसरे दिन भी जब यही बात रही, तो मैं पहुँचा उनके मुहल्ले मे और पकड़ा चौधरी रामस्वरूप को—"चौधरी साहब, दो दिन से बच्चे पाठशाला क्यों नहीं गये ?"

"अजी, इन ससुरों से पढ़ा जा क्या, पण्डित जी।" पहले तो वे मुझे टालते रहे, पर जब मैंने पीछा न छोड़ा, तो झल्लाकर बोले : "हमें ऐसी पढ़ाई की जरूरत नहीं, जिसमें अपनी जात खोनी पड़े।"

"यह आप क्या कह रहे हैं चौधरी साहब? पढ़ाई से तो जात बनती है।" मैंने कहा, तो वे भड़ककर बोले : "हमें ऐसी पढ़ाई की जरूरत नहीं है, जिसके लिए भंगियों में बैठना पड़े।"

ओह यह बात है! सुना-समझा, तो खून में उबाल आ गया और सिर गरम हो उठा, पर सुधार का काम न उबाल से चलता है न गरमी से। घण्टों सिर मारकर यह फ़ैसला हुआ कि भंगियों के बालक चमार बालकों से अलग, दूसरी चटाई पर बैठें और उनके पीने के लिए पानी का घड़ा भी अलग हो! मेरे लिए यह पकते तेल में नहाना था, पर नहाना था तो नहाना ही था।

और यह है १९२९ ईसवी।

धाड, हमारे जिले का अर्ध पहाड़ी इलाक़ा। भाई बहादुर सिंह के साथ मैंने वहाँ के हरिजनों के पानी का मामला अपने हाथ में लिया। बाप रे यह पानी का मसला! गाँव में कुआँ, पर उसपर क्षत्रियों का अधिकार और उनका जमींदारी रौब अपनी पूरी औलानियों पर, चमारों में यह भी हिम्मत नहीं कि कुएँ पर चढ़ने की बात सोच सकें, इसलिए वे पीते हैं नालों-खालों का पानी और ये नाले-खाले कहीं-कहीं घरों से तीन-तीन मील दूर।

प्रार्थना से हमने अपना आन्दोलन आरम्भ किया और इस घोषणा तक हम आ गये कि "शीघ्र ही पानी-सत्याग्रह आरम्भ किया जायेगा, जिसमें बलपूर्वक चमार लोग इन कुओं से पानी भरेंगे, भले ही उनपर मार पड़े।"

राजपूतों ने इस घोषणा के जवाब में हमें लाठियाँ दिखायीं और साफ़-साफ़ कह दिया कि जो चमार कुएँ की 'मन' को छुएगा, उसका सिर फोड़ दिया जायेगा। हम सब जानते थे कि यह घोषणा बन्दर-घुड़की नहीं

है, क्योंकि उस युग में पुलिस और मजिस्ट्रेट अँगरेज-नीति के अनुसार जमींदारों से पूछकर मुकदमे-मामले किया करते थे।

इस घोषणा से चमार घबराये और उनकी घबराहट से हम दोनों भी परेशानी में पड़े, पर उसी दिन एक दैवी घटना हो गयी कि डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट श्री जॉस्टन ने शाम को अपने बँगले पर हमें बुलाया। हम समझ गये कि इसका अर्थ हमारी गिरफ्तारी है और बँगले से हम सीधे जेल जायेंगे, इसलिए हम कुछ ऐसी मुद्रा में गये कि जैसे आग से पंजा लड़ाने जा रहे हों, पर हमने देखा जॉस्टन साहब के चेहरे पर खिचाव की एक रेखा नहीं है—वह है एकदम मीठा-मुलायम मनोरम।

बोले "प्रभु के राज्य में यह अन्याय है कि किसी को पानी लेने से रोका जाये। मुझे खुशी है कि आप उस अन्याय का विरोध कर रहे हैं। अपने पद के कारण मैं खुलेआम आपका साथ नहीं दे सकता, पर आप मेरी बात मानें, यह अन्याय दूर हो सकता है।"

हमने उनकी बात मानना मान लिया, तो बोले . "डरो मत और धमकी का जवाब धमकियों से दो कि हम यह कर देंगे, वह कर देंगे। इसके बाद मैं उन लोगों को और आपको बुलाऊँगा। मीटिंग में मैं आपको धमकी दूँगा, पर आप दबें नहीं और खूब जोर से बोलें।"

इलाके में घूमकर हमने कानाफूसी मे लोगों को समझाया कि सत्याग्रह के लिए स्वयंसेवक बाहर से आयेंगे, तुम लोग डरो मत, सिर्फ साथ लगे रहो। इस तरह भय के वातावरण को दूर कर हमने गाँव-गाँव मे सत्याग्रह की डोंडी पीटी और छापकर नोटिस बाँट दिया—पानी-सत्याग्रह के लिए पाँच हजार स्वयंसेवक तैयार। सारे इलाके में इससे सनसनी फैल गयी और तब एक दिन हमारी बुलाब हुई कलक्टर के बँगले पर।

एक तरफ पाँच-सात बड़े लोग—शहर के, गाँव के—दूसरी तरफ हम दोनों और बीच में कलक्टर साहब। उन्होंने बड़ों का प्रतिनिधित्व आरम्भ किया : "आप लोगों ने घाड के इलाके में बहुत गड़बड़ मचायी

है। जमींदार लोगों ने जो कुएँ अपने रुपये से बनवाये, वे उनके मालिक हैं, फिर चमार लोग जबरदस्ती उनपर कैसे चढना मांगता ?"

मैंने जोर से चिल्लाकर कहा : "झूठ, बिलकुल झूठ !" और तब धीरे से कहा : "इन कुओं में ईंट-चूना जमींदारों का लगा है और मेहनत-मजदूरी चमारों की, इसलिए कुएँ साझे के हैं—जमींदारों को कोई हक नहीं कि वे उन्हें पानी भरने से रोकें !"

कलक्टर साहब ने पैंतरा बदला : "यह सिर्फ़ मिल्कियत का ही सवाल नहीं है, धर्म का भी सवाल है। देहातों के राजपूत-ब्राह्मण लोग समझते हैं कि चमारों के कुएँ पर चढने से उनका धर्म भ्रष्ट हो जायेगा।"

भाई बहादुरसिंह बोले, "कलक्टर साहब, ये बातें तो हम पहले ही सुन चुके हैं इन लोगों से, अब तो हम आपकी बात सुनने को आये हैं।"

कलक्टर साहब बोले . "हम अमन को खतरे में नहीं पडने देंगे। आप लोग जबरदस्ती कुओं पर चढेंगे तो हमारा सिपाही गोली चलायेगा।"

मैंने पूरी तेजी से कहा . "बस तो फिर बात खत्म हुई। ये लोग लाठी चलायेंगे, आप गोली मारेंगे और हम छातियां खोलेंगे और तब इस बात का फैसला भी होगा कि गोलियां पहले खत्म होती हैं या छातियां।"

भाई बहादुरसिंह उछलकर खडे हो गये और अपनी छाती को दम-दमाकर बोले, "कलक्टर साहब, पहली गोली इस छाती पर पडेगी।" हम दोनों नमस्कार कर चल दिये, पर तभी कलक्टर साहब ने कहा : "अच्छा, आप लोग अभी बाहर बैठेगा।"

हम बरामदे में बैठ गये। कलक्टर साहब ने उन्हें समझाया कि ये लोग तो मरने पर उतारू हैं और इनकी बात न मानी गयी तो बड़ा तूफ़ान हो जायेगा। थोडी देर बाद फिर हमें बुलाया गया और कलक्टर साहब ने कहा : "कुएँ जमींदार लोगों के हैं और चमारों को उनपर चढने का कोई हक नहीं है, फिर भी ये लोग चमारों को पानी देना चाहते

है, इसलिए हुमने फैसला दिया है कि कुएँ के तीन तरफ़ ऊँची क़ौम का लोग पानी भरेगा और एक तरफ चमार लोग भरेगा। चमार लोग तीन तरफ से चढेगा, तो हम गोली चलायेगा; जाओ !"

हम चले आये। बाहर आते ही भाई बहादुरसिंह बोले : "पण्डित जी, आज की रामलीला खूब रही !" मैंने कहा : "हाँ, तुम्हारा अगद का पार्ट बहुत शानदार रहा।" और हम दोनो खूब हँसे और हम क्या हँसे, वह सारा इलाका ही हँस पड़ा।

दोनो घटनाओं के बीच में बरसों का अन्तर है और इन्हें हुए भी बरसो हो गये, पर मेरे सामने वे दोनो बराबर खड़ी है और मैं सोच रहा हूँ कि हमारी उस पाठशाला में भगी बालको के लिए अलग रखे उस पट्टे में और चमार बन्धुओं के लिए सुरक्षित कुएँ के उस एक भाग मे क्या अन्तर है ?

लो, यह रामलीला के रावण से भी लम्बा कौन आदमी मेरे सामने आ खड़ा हुआ ? आठ पैर, आठ हाथ, चार मुँह, राम रे राम ! गौर से देखता हूँ तो पाता हूँ, यह एक आदमी नही है, ये तो कई आदमी ऊपर-नीचे खड़े है—नीचे भगी है, ऊपर चमार है, ऊपर जमीदार है, ऊपर कलक्टर है। इनमें कोई भी अपने सिर पर ध्यान नहीं दे रहा, क्योंकि सिर दूसरे के पैरो की बोझिल ममता से सुन्न हो गया है। हाँ, अपने पैरों के नीचे दबे सिर का सुख हरेक अनुभव कर रहा है—हाय रे, मनुष्य के सुख !

"चल बे उल्लू के पट्ठे !" और ठेलेवाले ने भैंसे की कमर पर एक हण्टर कसाकस फटकार दिया।

कौन है यह ठेलेवाला ? दिल्ली के मुग़ल बादशाह का वंशधर है और सरकार से अब भी पाँच रुपये महीना पेन्शन पाता है।

ख्वाजा हसन निज़ामी ने एक दिन [illegible] : "शाहज़ादे, [illegible] [illegible] में यह ठेले का काम क्यों [illegible] ?"

जवाब मिला : [illegible] में सारे [illegible] है। [illegible], ये [illegible] है; मैं [illegible] हूँ !

इनाम और नाराज हो, तो सजा देने की तबीयत है। इस ठेन्ने से रोटी तो मिलती ही है, पर तबीयत पूरी हो जाती है कि खुश हुए, तो उन भैंसे को आटे का एक पेडा दे दिया और नाराज हुए, तो हन्टर फटकार दिया।"

क्या बात हुई यह? यही कि शाहजादे से ठेन्नेवाले रह गये, पर उसका दु:ख नहीं। नतीजा यह कि खोयी प्रतिष्ठा पाने का कोई उद्योग भी नहीं है, क्योंकि शाहजादे साहब के सिर पर जो कीलदार बूट ठुके हुए हैं, वे उधर नही देखते, उनकी नजर है अपने पैरो पर, जिनके नीचे भैंसे का सिर है।

मनुष्य का वास्तविक सुख क्या है? यही कि उसका जीवन ऊँचा हो।

मनुष्य का जीवन ऊँचा कैसे होता है? सत्कर्मों से।

जीवन की यह कैसी विडम्बना है कि हम अपने जीवन की ऊँचाई का ध्यान ही न करें, उसके लिए सत्कर्मों की साधना उपेक्षित पडी रहे और हमारे जीवन का सुख केवल इस बात पर निर्भर हो जाये कि दूसरे भी ऊँचे नहीं, नीचे ही हैं। दूसरे शब्दो में हमें अपनी उच्चता पर गर्व नही, दूसरो की नीचता पर सन्तोष हो।

पिता जी ने एक बार कहा था: "बेटा, लौकिक सम्पत्ति में हमेशा अपने से नीचे देखना चाहिए और पारलौकिक सम्पत्ति में अपने से ऊपर।"

मैंने जब इस सूत्र की व्याख्या पूछी, तो बोले. "यदि हमारे पास सौ रुपये हैं और हम देखें उस पुरुष की तरफ़, जिसके पास दो-सौ रुपये हैं, तो हम एक ओर उसकी स्थिति से ईर्ष्या करेंगे और दूसरी ओर अपनी स्थिति पर दु:खी होंगे। इसके विरुद्ध यदि हम उस दो-सौ रुपयेवाले की तरफ़ न देखकर, उसकी तरफ देखें, जिसके पास पचास ही रुपये हैं, तो हम एक ओर तो अपनी स्थिति पर सन्तोष करेंगे और दूसरी तरफ उस पचासवाले पड़ोसी को समय पर सहायता देने की सद्भावना हमारे मन में उपजेगी।

यह है लौकिक सम्पत्ति की बात, पर पारलौकिक सम्पदा में दूसरी ! की आवश्यकता है। हम यदि ईमानदारी का जीवन व्यतीत करते है, तो अपने से नीचे उस आदमी की तरफ न देखें, जो बेईमानी का जीवन व्यतीत करता है, पर अपने से ऊँचे उस आदमी की तरफ देखें, जो ईमानदारी का जीवन तो व्यतीत करता ही है, पर दानी भी है! इसका फल यह होगा कि हम अपनी उच्चता पर गर्व करने के अभिशाप से बच जायेंगे।"

पिता जी के इस सूत्र और उसकी व्याख्या में देखने की कला का पूरा व्याकरण समाया हुआ है। व्याकरण को भूलने से भाषा अशुद्ध हो जाती है। इस व्याकरण को भूलने से देखने की कला अशुद्ध हो गयी है। फलस्वरूप व्यक्ति व्यक्ति को, जाति जाति को, सम्प्रदाय सम्प्रदाय को और राष्ट्र राष्ट्र को हीन करके खड़ा है और नक्शा यही है कि हरेक के सिर पर किसी के पैर है, तो हरेक के पैरो तले किसी का सिर है!

यह मायाचक्र कैसे खण्डित हो ?

यह अस्वाभाविक स्थिति कैसे बदले ?

इसके दो उपाय हैं : उतरें या गिरा दिये जायें।

जो सबसे ऊपर है, वह स्वेच्छा से, अपने कर्म को अनुचित समझ, स्वयं नीचे उतर आये और दूसरों को भी वैसा करने में सहयोग-प्रेरणा दे। ऐसा न हो, तो फिर सबसे नीचेवाला एक बार हिम्मत बाँधकर अपना सिर इतने जोर से हिलाये कि सब ऊपरवाले आँधी के आम-से धड़ाम से टपक पड़ें।

जिसके जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण युग-प्रश्न ही यह है कि ऊपरवाले स्वेच्छा से नीचे उतर, समता के स्रष्टा बनने का सुयश लेंगे या अपनी ही रची विषमता का शिकार हो, धमाका-धड़ाका देखेंगे ?



एक कार्ड, तीन पत्र

यह आया है फटे कोने का कार्ड कि वे मर गये और अमुक तिथि को होने-वाले उनके अन्त्येष्टि-संस्कार में मैं सम्मिलित होऊँ, क्योंकि मैं भी उनका एक अपना था। यह कार्ड एक सूचना है।

कार्ड पढ़कर मन में विचारों की एक लहर-सी आ गयी। सोचा यह कार्ड एक सूचना है कि वे मर गये और सूचना है कि एक दिन मेरा भी ऐसा ही अन्त्येष्टि-संस्कार होगा और मेरे अपनों को भी ऐसे ही फटे कोने के कार्ड भेजे जायेंगे।

मैंने उस कार्ड को फाड़कर रद्दी की टोकरी में फेंक दिया। ऐसे अशुभ कार्डों के साथ व्यवहार की यही परम्परा है। सोचा : मेरे मरने के कार्डों की भी यही हालत होगी और उन्हें भी मेरे अपने इसी तरह फाड़-कर फेंक देंगे।

कई आवश्यक काम सामने थे। मैं उनमें लग गया और लगते-लगते सोचा कि मेरे मरने का कार्ड पढ़-फाड़कर दूसरे भी इसी तरह अपने-अपने कामों में लग जायेंगे।

तन-मन में बिजली का एक झन्नाटा-सा निकल गया—क्या मेरी मृत्यु इतनी नगण्य है?

तन-मन में मलय पवन का एक झोंका-सा खेल गया—जीवन में मृत्यु का स्थान इतना नगण्य न होता, तो लाखों साल बीत गये कि मृत्यु अपने भयंकर जबड़ों में जीवन को चबा रही है, फिर भी जीवन ही जीवन चारों ओर क्यों लहराता?

जीवन की यह कितनी बड़ी सचाई है कि विध्वंस से निर्माण महत्व-

पूर्ण हैं और संसार में भले ही जगह-जगह श्मशान हों, पर उसकी उल्लेखनीय और स्मरणीय चीज तो उपवन ही है। बंजर धरती पर हैं, रहेंगे भी, पर लहलहाते खेतो को छोडकर उनके गीत कौन गायेगा ?

कौन है जो इस प्रश्न का उत्तर हाँ में दे ? ठीक है, कोई नहीं है, पर यह भीतर से उभरता आ रहा है एक पैना-पैना प्रश्न : तब क्या मृत्यु इतनी नगण्य है कि उसपर मनुष्य के मन में कोई भाव ही न उठे ? कौन है, जो इस प्रश्न का उत्तर हाँ मे दे ?

समवेदना मनुष्य का एक सर्वोत्तम गुण है; क्योकि इसी के गर्भ से सेवा और सहयोग का जन्म होता है। सेवा मनुष्य की उच्चता का माप-दण्ड है, तो सहयोग स्वस्थता का और ये सब मिलकर ही मनुष्य के पूर्ण व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। समवेदना का सर्वोत्तम प्रस्फुटन मनुष्य मे किसी की मृत्यु के क्षणो में ही होता है, तो क्या हम मानें कि मृत्यु जीवन का एक महान् दुःख है और कहें कि वह नगण्य नही, एक अग्रगण्य तत्व है ?

लगता है हम उलझ रहे हैं, पर सुलझने की राह यह है कि हम यह जाने रहें कि मृत्यु के समय सारे वातावरण पर जिस दुःख का धुआँ छा जाता है, वह दुःख असल में है क्या ? वह दुःख यह है कि जीवन का एक दीप बुझ गया—एक व्यक्ति जीवन के आनन्द का उपभोग करने से वंचित हो गया; तो मुख्य है जीवन—मृत्यु तो एक दुर्घटना है और हमारी समवेदना उस दुर्घटना से पाठ लेकर जीवन को आनन्दमय एव स्वस्थ बनाने के प्रयत्नो की भाव-भूमि है।

मेरे पुत्र अखिलेश की होनहार पुत्री अर्चना की अचानक मृत्यु हो गयी, तो मुझे बहुत-से बन्धुओ के पत्र मिले। उनमे तीन पत्र समवेदना के तीन रूप अपने में समाये हुए हैं। वयोज्ञानवृद्ध श्री स्वामी सत्यदेव परिव्राजक ने लिखा : "जब कोई बच्चा मर जाता है, तो उसके लिए बडी प्रसन्नता मनानी चाहिए; क्योंकि प्रभु बोझ हलका कर देते हैं, माता-पिता की जिम्मेदारी कम हो जाती है। आनन्द का मूल्य अनासक्ति है।"

वीरता, बलिदान और आदर्श के चारण श्री रामचन्द्र शर्मा 'महारथी' ने लिखा : "अखिलेश के दु ख की कल्पना करता हूँ, पर कृपया उसे स्मरण करा दें कि वह 'प्रभाकर' की सन्तान है और 'महारथी' का बच्चा। उसके जीवन में दु ख और निराशा के लिए स्थान कहाँ ?"

दैनिक 'नवभारत टाइम्स' के सम्पादक श्री अक्षयकुमार जैन ने लिखा : "अजीब-सी बात है कि आज सुबह जब मैं घर से दफ्तर के लिए चला, मेरे बडे पुत्र विजय के देहावसान की चर्चा अनायास ही पत्नी ने कर डाली और दफ्तर से आकर पता चला कि आयुष्मान् अखिलेश की मुन्नी के साथ भी इसी प्रकार की घटना घटी।

ऐसे अवसरों पर प्रायः दार्शनिक रूप से चर्चा करने की परिपाटी है, पर मेरा तो अनुभव और धारणा है कि ऐसे अवसरों पर ही मानव के अन्त करण के संवेदन-शील तत्त्व प्रकट हो सकते हैं और उन्हें दबाने की कोई कोशिश नही होनी चाहिए। इसीलिए समवेदना के 'दो शब्द मैं आपको लिखने का साहस कर रहा हूँ।"

तीनों पत्र-लेखक मेरे अपने हैं और तीनों की भावना है कि मेरा दु ख हलका हो, मैं उस दु ख से बचकर जीवन का आनन्द लेने के काम में लगूँ पर तीनो की प्रक्रिया भिन्न है। यह दृष्टिकोण की भिन्नता है। स्वामी जी का दृष्टिकोण धार्मिक है कि भगवान् ने एक उत्तरदायित्व दिया था, उसे वापस ले लिया, तो काम का बोझ हलका हुआ, इसमें रोने की क्या बात है ? सृष्टि का सचालन भगवान् के हाथ है और वे जो भी करते हैं, वह शुभ ही होता है, तो मनुष्य शुभ की कल्पना क्यों करे ? दो-तीन पक्तियों में स्वामी जी ने मृत्यु का यथार्थ दे दिया और जो इस यथार्थ को पा लेगा वह दु:खी हो ही नही सकता—उसके लिए दु ख की कोई बात है ही नही।

ठीक है मृत्यु में दु ख की कोई बात नही है; गीता के अनुसार जैसे हम पुराने वस्त्र बदलकर नये पहनते हैं, वैसे ही पुरानी देह छोडकर नयी ले लेते हैं, पर इस यथार्थ का ज्ञान तो सुगम है, अनुभव कठिन—बहुत

कठिन। इस स्थिति में आत्मीय की मृत्यु को हम दु खहीन मानें, यह हर एक के लिए सम्भव नही है। तब महारथी जी के दृष्टिकोण का उपयोग है। यह दृष्टिकोण एक बहादुर आदमी का दृष्टिकोण है, जो जीवन को तपोभूमि नही, युद्धभूमि मानता है : अरे भई, जीवन एक युद्ध है, इसमें हाथ-पैर भी टूटते है, सिर भी कटते है। चोट पर मरहम-पट्टी करना नर्सों का काम है और मुरदो को श्मशान पहुँचाना मजदूरो का, योद्धा का काम लड़ना और लड़ते रहना है। कौन गिर गया और कौन नही, इसपर ध्यान देने की उसे कहाँ फुरसत है? द्रोणाचार्य युद्ध के बीच बेटे की मृत्यु का लेखा-जोखा देखने लगा, तभी तो मारा गया!

बात ठीक है कि स्वयं जिसके सिर पर मौत मँडरा रही है, जिसे स्वय जाने कब मृत्यु का ग्रास हो जाना है, वह दूसरे की मृत्यु पर मुँह लटकाये या आँसू बहाये, तो एक मजाक ही है। इस मजाक का समर्थन न तत्त्वज्ञानी कर सकता है, न योद्धा—वीर, पर एक मार्मिक प्रश्न यह है कि क्या मनुष्य तत्त्वज्ञानी और योद्धा ही है कि वह अपने चारो ओर के वातावरण से निर्लिप्त होकर जिये?

इस प्रश्न का उत्तर हर समय हाँ मे देना कठिन है और कठिनता के इन्ही क्षणो में श्री अक्षयकुमार जैन के दृष्टिकोण का उपयोग है। अपने आदमी की मृत्यु होने से आज 'क' दु.खी है। कल 'ख' भी यह दु.ख भोग चुका है, इसलिए वह 'क' के दु ख को समझता है और उसका मानवीय कर्तव्य है कि वह 'क' के दु ख में सम्मिलित हो, उसका दु.ख अपनी समवेदना देकर घटाये-बढाये और अपने व्यवहार से सिद्ध करे कि वह दु.ख की इन घडियों में अकेला नही है—उसके पड़ोसी, उसके मित्र, उसके साथ है।

यह जीवन का मध्यम मार्ग है : तू मेरा, मैं तेरा का यह समझौता है, दु ख के बोझ से मनुष्य को टूट-गिरने से बचानेवाला यह आपसी सहयोग है। इसकी सफलता यह है कि इसमे तत्त्वज्ञानी और योद्धा के दृष्टिकोण का समन्वय कर हम आगे बढ़ें, जिससे हमारी समवेदना दु.खी के दु.ख में

सहायक तो हो, पर एक नया बोझ न बन बैठे। दूसरे शब्दों में हम स्वयं दुःख के बोझ से इतने न दब जायें कि अपने हाहाकार से दुःखी के मन को और भी घने दुःख से भर दें और उसे उद्बोधन का सहारा भी न दे पायें!!

इसमें एक खतरा भी है कि हमारी निःस्पृहता इतनी बौद्धिक हो जाये कि वह हमारी समवेदना की हार्दिकता ही खत्म कर दे और हमारा उद्बोधन एक पेशेवर प्रचारक की टॉय-टॉय रह जाये या एक अभिनय ही। श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी ने अपनी आत्मकथा में समवेदना के अभिनय का जो चित्र दिया है, वह शायद संसार के साहित्य में अनुपम है। उनके बुजुर्ग थे श्री मधुभाई काका। सब उन्हें सरकार कहा करते थे। बड़े प्रतापी पुरुष थे। उन्हीं की गाथा है:

"किसी के यहाँ मृत्यु होने पर समवेदना प्रकट करने के लिए यदि सरकार चले जाते, तो बड़ी कृपा समझी जाती। श्मशान से आदमी लौटते और खबर मिलती कि सरकार आ रहे हैं, तो नौकर हाजिर हो जाता, चबूतरे पर चौकी डाली जाती और सब लोग प्रतीक्षा में खड़े हो जाते। सरकार स्वच्छ धोती पहन-ओढ़कर रोते-रोते आते। उनका मुँह लाल हो जाता। आँखों से अश्रुधारा बह निकलती। वे सुन्दर शब्दों में मृत व्यक्ति की प्रशंसा करते। शंकराचार्य के वचनों द्वारा वैराग्य का बोध देते और जैसे नाटक में राजा आकर चला जाता है, वैसे ही तत्काल चले जाते।

एक बार मैं साथ गया था और साथ ही वापस आया था। मधुभाई काका की लगन देखकर मैं दंग हो गया। सामने ही उनका अपना घर था। उसमें पैर रखा कि उनका मुँह बदल गया, आँखों में आँसू सूख गये और वे तिरस्कारपूर्वक बोले : ऊँह, एक बड़ा लड़का मर गया, तो जैसे पृथ्वी रसातल चली गयी! सुनकर मैं आश्चर्यचकित रह गया।"

जीवन में वेदना का भाव है, सुख की फुहार है, तो दुःख की कचोट भी है और यह है तो समवेदना भी है ही, पर समवेदना की कसौटी क्या है? असली समवेदना वह है कि जिससे दुःखी का दुःख हलका हो, वह उसे कुछ देर के लिए भूले!

इसे समझने की आवश्यकता है। वेदना के घाव को भरने की शक्ति केवल समय में है—समय का प्रवाह धीरे-धीरे वेदना को हलकी और सहज बना देता है, पर समय अपना काम धीरे-धीरे करता है, तो दु ख की चोट और समय की चिकित्सा के बीच की कडी (एक रिलीफ—सान्त्वना) है यह समवेदना, जो दु'खी को प्रतीक्षा का धीरज देती है।

इसके लिए जहाँ यह आवश्यक है कि हमारी समवेदना बौद्धिक या नक़ली न हो, यह भी आवश्यक है कि वह फूहड न हो। फूहड समवेदना क्या, कैसी ? रहमान का बेटा गफ्फार छत से गिरकर मर गया, तो श्याम सिंह समवेदना के लिए पहुँचा। रहमान बिलखकर रो चुका था और दो दिन बाद आज बडी मुश्किल से उसकी पत्नी और बेटी ने उसे थोड़ी-सी चाय पिलायी थी। श्यामसिंह ने आते ही गफ्फार की चर्चा छेड दी और खोद-खोदकर उसके छत से गिरने, घायल होने, तडफने और मरने की कहानी सुनी। रहमान के दु ख का बाँध फिर टूट गया और उसके घाव फिर से हरे हो आये। यह श्यामसिंह की फूहड़ समवेदना का फल था।

समवेदना का काम दु ख को दबाना है, दबे दु ख को उभारना नहीं। हम घाव को सहलायें, उसपर मरहम लगायें, उसे टंकोरें नहीं, उधेडें नहीं, पर इसका यह भी अर्थ नहीं कि वहाँ बैठे हम बार-बार पान चबाया करें और महफिली फुलझडियाँ छोडा करें। हमारी सीमा वहाँ तक है कि जहाँ तक हम दु खी को अपने साथ ले सकें—हम दु.खी को समवेदना दें, पर हमारी समवेदना नक़ली न हो, फूहड न हो।

□□□

हमारे अन्य निबन्ध संग्रह

जियें तो ऐसे जियें	कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर	५.००
निषाद बाँसुरी	कुबेरनाथ राय	१७.००
व्यास पर्व	दुर्गा भागवत	८ ००
कस्तूरी मृग [पुरस्कृत] [अप्राप्य]	शिवप्रसाद सिंह	७.५०
गन्धमादन [पुरस्कृत, द्वि. सं.]	कुबेरनाथ राय	१५.००
रस आखेटक	,,	८.५०
प्रिया नीलकण्ठी [पुरस्कृत, तृ सं]	,,	६.००
स्वप्नलोक	हरिमोहन शर्मा	१०.००
तरुणाई के सपने [द्वि. स.]	नेताजी सुभाषचन्द्र बोस	१०.००
शार्टकट की संस्कृति	केशवचन्द्र वर्मा	८.००
शुभागता	पुष्पा भारती	८ ००
ठेले पर हिमालय [द्वि सं.]	डॉ. धर्मवीर भारती	११.००
पश्यन्ती [द्वि. सं]	,, ,,	१०.००
कहनी अनकहनी [तृ. सं.]	,, ,,	१०.००
श्री और सौरभ	उमाशंकर जोशी	८ ००
अवधी व्रत कथाएँ	डॉ. इन्दुप्रकाश पाण्डेय	७.००
पुरातत्त्व का रोमास	डॉ. भ. श उपाध्याय	६ ००
सास्कृतिक निबन्ध	,, ,,	५ ००
ठूँठा आम	,, ,,	४ ००
परिवेश	मोहन राकेश	६.००

वाग्धारा [अप्राप्य] — डॉ वासुदेवशरण अग्रवाल — ५.००
कुछ निबन्ध — अक्षयकुमार जैन — ४.००
चिन्तक की लाचारी [अप्राप्य] — माखनलाल चतुर्वेदी — ६.००
अमीर इरादे गरीब इरादे [तृ. सं., अप्राप्य] — ,, ,, — ४.००
एक साहित्यिक की डायरी [च. सं.] — ग. मा. मुक्तिबोध — २.५०
हम सब और वह [द्वि स.] — दयानन्द वर्मा — ३.००
बातें, जिनमें सुगन्ध फूलो की — अहमद सलीम — ४.५०
क्षण बोले कण मुसकाये [तृ. सं] — कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' — ५ ५०
महके आँगन चहके द्वार [द्वि सं.] — ,, ,, — ७.००
बाजे पायलिया के घुँघरू [तृ सं.] — ,, ,, — ६.००
माटी हो गयी सोना [च स] — ,, ,, — ७.००
शिखरो का सेतु — डॉ. शिवप्रसाद सिंह — ५.००
फिर बैतलवा डाल पर — विवेकी राय — ५.००
आँगन का पछी और बनजारा मन — विद्यानिवास मिश्र — ४.५०
नये रग नये ढंग — लक्ष्मीचन्द्र जैन — ४.००
कागज की किश्तियाँ — ,, ,, — ५.००
वृन्त और विकास — शान्तिप्रिय द्विवेदी — ४.५०
बना रहे बनारस — विश्वनाथ मुखर्जी — ४.५०
ग़रीब और अमीर पुस्तकें [द्वि. सं.] — रामनारायण उपाध्याय — ३.००
क्या मैं अन्दर आ सकता हूँ ? [अप्राप्य] — रावी — ४.५०
हिन्दुविवाह में कन्यादान का स्थान[तृ. सं.] — डॉ. सम्पूर्णानन्द — २ ००